KALPNA

PRESS

KATRASGARH

भारत में राष्ट्रीय प्रश्न और आदिवासियों के राष्ट्र की समस्या

लेखक
सीताराम

प्रकाशक
पीपुल्स फ्रंट (जन मोर्चा),
पो०—कतरासगढ़,
जिला-धनबाद (बिहार)

पत्र व्यवहार के लिये पता—
गोपाल प्रसाद वर्णवाल
पो०—कतरास बाजार,
जिला—धनबाद

मूल्य—तीन रूपये

भूमिका

आज हिन्दुस्तान के तमाम क्रांतिकारी तत्व संशोधनवादी संगठनों और राजनीति से लगातार टूटते हुये एक सही क्रांतिकारी सर्वहारापार्टी, क्रांतिकारी कार्यनीति और क्रांतिकारी सिद्धान्त के विकास के कार्य में रत हैं। इस परिपेक्ष्य में आज इसकी जरूरत है कि पहले के तमाम राजनीतिक दृष्टिकोणों का पुनरावलोकन करते हुये हर मसले पर एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण की कोशिश होनी चाहिये। प्रस्तुत लेख हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय प्रश्न के सवाल पर सर्वहारा पार्टी के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण पेश करने की कोशिश की गई है। इस तरह की कोशिशों पर सामूहिक बहस के द्वारा ही मूल राजनीति तथा भारतीय क्रांति के विभिन्न मसलों पर क्रांति की दिशा निर्धारक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी लाइन पर पहुंचा जा सकता है।

पाठकों से निवेदन है कि इस लेख को इसी रूप में लेते हुये, राष्ट्रीय प्रश्न पर हिन्दुस्तान के सर्वहारा क्रांतिकारियों में एक सही दृष्टिकोण पर पहुंचने के लिये बहस के आधार के रूप में इस लेख की उपयोगिता एवं सार्थकता को ग्रहण करें।

निवेदक,
गोपाल प्रसाद वर्णवाल,
सह-संयोजक,
पीपुल्स फ्रन्ट, कतरास।

ता० १५-२-१९७५

भारत में राष्ट्रीय प्रश्न और आदिवासियों के राष्ट्र की समस्या

भारत में राष्ट्रीय प्रश्न

भारत में राष्ट्रीय प्रश्न के स्वरुप को समझने के लिए इस समस्या का ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों में अध्ययन करना चाहिये।

भारत कभी भी किसी एक जाति का राष्ट्र नहीं रहा और आज भी नहीं है। यह कई राष्ट्रों से मिलकर बना एक बहु-राष्ट्रीय (मल्टी नेशनल) देश है। प्राचीन काल में आर्य कबीलों के इस देश में आने से पहले यहाँ तीन प्रकार के लोग पहले से ही रहते थे—आष्ट्रो–एशियाटिक भाषा–परिवार की भाषाएँ बोलनेवाली खासी तथा कोल-मुण्डा जातियाँ, द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोलनेवाली जातियाँ तथा चीनो-तिब्बती-भोट-बर्मी परिवार की भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ। प्राचीन काल में आर्यों का इन अनार्य जातियों के साथ काफी लम्बे समय तक प्रचण्ड संघर्ष चला था। संघर्ष के दौरान आर्यों ने अनार्य जातियों के एक हिस्से को अपना दास बना लिया और अपनी समाज-व्यवस्था में उन्हें शुद्रों का स्थान दिया। इस संघर्ष के अलावा उनमें परस्पर समागम और समन्वय की प्रक्रिया भी चली। खान-पान रीति-रिवाज, देवी-देवता, पूजा-पाठ, पर्व-त्योहार तथा विचारों के क्षेत्र में भी आर्यों और अनार्यों के बीच परस्पर आदान-प्रदान और समिश्रण भी हुआ। लेकिन अधिकांश कोल-मुण्डा तथा चीनी-भोट जातियों और द्रविड़ों की वैसी जातियाँ जो तुलनात्मक रूप से अधिक पिछड़ी हुई थीं,—जिन सबको आज हम सामान्यतः आदिवासी कहते हैं—अपने निवास-स्थानों और जमीनों से खदेड़ दी गई। ये

जातियाँ, जो आर्यों के मुकाबले में स्वयं को खड़ा नहीं रख सकीं, मध्य भारत और सीमावर्ती इलाकों में फैल गईं और जंगलों तथा पहाड़ों पर रहने के लिए बाध्य हुईं। इस प्रकार ये जातियाँ समाज और सभ्यता के आम और स्वाभाविक विकास की धारा से कट गईं।

इसके बाद भी आर्यों ने तथा आर्यों द्वारा अपने समाज में मिला ली गई कुछ अनार्य जातियों के लोगों ने, आदिवासी जातियों पर अपना आर्थिक, सैनिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व कायम करने के अभियान को जारी रखा। प्राचीन पौराणिक तथा साहित्यिक ग्रंथों में इससे संबंधित वर्णन मिल जाते हैं। पूरे मध्यकाल तक इन आदिवासियों पर विकसित जातियों द्वारा हमले करना और उनपर शासन करना जारी रहा और मध्य तथा पूर्वी भारत में भी उन्हें उनकी जमीनों से बेदखल किया जाता रहा। इन सब शक्तिशाली अवरोधों से अपनी रक्षा करने में असमर्थ आदिवासी जातियाँ, जो निरंतर स्वयं को बचाने की चेष्टा में सामाजिक रूप से सिकुड़ी रहीं, कभी भी अपने विकास के लिए सामान्य परिस्थितियों को नहीं पा सकीं और सभ्यता तथा विकास की ऐतिहासिक धारा से कटी रहीं।

लेकिन इसके विपरीत, उपजाऊ मैदानी इलाकों में रहने वाली आर्य तथा कुछ द्रविड़ जातियों का विकास निरंतर होता रहा। सामंती राज्यों की स्थापना के बाद, जिसने इन जातियों के संगठित विकास के मार्ग खोल दिये थे, मध्यकाल में हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उड़िया आदि नव्य भारतीय आर्य भाषाओं तथा तमिल, तेलुगू, कन्नड़ आदि द्रविड़ भाषाओं के उदय के साथ साथ देश की भौगोलिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण, बहुत से तत्वों से मिश्रित हो चुकी आर्य और द्रविड़ जातियाँ अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के रूप में विकसित हुईं और बंगाली, गुजराती, राजस्थानी, महाराष्ट्री, पंजाबी तथा तेलुगु, कन्नड़ आदि राष्ट्रों का अस्तित्व सामने आने लगा।

१७ वीं सदी से देश में फ्रेंच, डच और ब्रिटिश व्यापारिक कंपनियों का आना शुरु हुआ और इनमें से ब्रिटेन की ईस्ट इंडिया कंपनी ने आगे बढ़कर लगभग सारे देश पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व भी कायम कर लिया। १८५७ ई० में भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत मिला दिया गया!

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत की सभी राष्ट्रीयताओं के स्वतंत्र आर्थिक राजनीतिक विकास को अवरुद्ध कर दिया। उसने भारत के घरेलू बाजारों पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया और यहाँ के राष्ट्रीय उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया। अंग्रेजों ने भारत में रहनेवाली विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोगों पर आसानी से अपना शासन चलाने के लिए "फूट डालो और राज करो" की नीति को अपनाया। अर्थ व्यवस्था, शिक्षा तथा नौकरियाँ देने के संबंध में ऐसी नीतियाँ अपनाई गईं जिनसे विभिन्न राष्ट्रीयताओं के बीच असमानता तथा दूरी और भी बढ़ गई।

लेकिन, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सबसे घातक आघात आदिवासियों की समाज-व्यवस्था को पहुंचा। उन्होंने इनके जंगलों को धुआँधार कटवा दिया जो कि आदिवासियों का घर और आर्थिक-आधार थे। साथ ही जंगलों पर आदिवासियों के परंपरागत अधिकारों का दमन और उनकी कटौती करना शुरू किया। पिछली शताब्दी में अंग्रेजों के खिलाफ हुए आदिवासियों के अधिकांश विद्रोहों का एक प्रमुख कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा जंगलों पर आदिवासियों के परंपरागत अधिकारों का दमन करना ही था। अंग्रेजों ने उन्हें उनकी जमीनों से बेदखल कर दिया और उनके एक बड़े अंश को खदानों, बागानों तथा अन्य उद्योगों में सस्ती मजदूरी पर खटनेवाले मजदूरों की "रिजर्व फोर्स" में बदल दिया। आदिवासियों पर अंग्रेजों ने अपना शोषण उन गैर आदिवासी, अपेक्षाकृत विकसित राष्ट्रीयताओं के जरिए चलाया जो पहले से हीं आदिवासियों का शोषण उत्पीड़न करती आ रही थी। इस प्रकार आदिवासी राष्ट्रीयताओं के ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारत की विकसित राष्ट्रों के साथ अंतर्विरोध और तीव्र हो उठे।

दूसरे महायुद्ध के बाद पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कमजोर होकर निकली और अमेरिका एक शक्तिशाली साम्राज्यवादी ताकत बनकर उभरा। विश्व के पराधीन देशों में बढ़ते हुए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों तथा समाजवादी क्रांतियों के कारण साम्राज्यवादियों ने पुरानी उपनिवेशिक प्रणाली को त्याग कर शोषण और उत्पीड़न की नव-उपनिवेशिक प्रणाली को शुरू किया। १९४७ ई० में भारत में भी प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन समाप्त होने के साथ ही भारत भी विश्व साम्राज्यवादियों के नवउपनिवेशिक शोषण का एक क्षेत्र बन गया। जिसमें आगे चलकर अमेरिका और सोवियत संघ प्रधान शोषक के रूप

में उभरे। साम्राज्यवाद जो आज भारत का प्रधान शत्रु है, ने भारत को एक अर्ध उपनिवेशिक, अर्धसामंती समाज में बदल दिया। इसने भारत की अर्थव्यवस्था और राष्ट्रीय सम्पदा को भी और भी निर्ममता और तेजी के साथ लूटना शुरू किया और भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह से साम्राज्यवाद की विश्व अर्थव्यवस्था का एक अंग बना दिया।

यह नव उपनिवेशवाद भारत को पश्चिमी संस्कृति के कूड़े-करकट का भी निर्यात करता है तथा इसने भारत के सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति को भ्रष्ट और अवरुद्ध कर रखा है। औपनिवेशिक शिक्षा संस्थानों से उच्च-शिक्षा प्राप्त करके निकली नई पीढ़ी अपने राष्ट्र और राष्ट्रीय जीवन को हीनता और हिकारत की नजर से देखती है। ब्रिटिश शासन द्वारा क्लर्क पैदा करने के लिए देश पर थोपी गई अंग्रेजी भाषा, जो आजतक भी कुल जनसंख्या के सिर्फ २% लोगों की-शासक वर्ग की – ही भाषा बन सकी है, ने भारत की सभी राष्ट्रीय भाषाओं के विकास को अवरुद्ध कर रखा है।

इस नवउपनिवेशिक शोषण और उत्पीड़न का शिकार भारत की सभी राष्ट्रीयताएँ समान रूप से हैं, लेकिन आदिवासी राष्ट्रीयताएँ दुहरे उत्पीड़न का शिकार हैं। भारतीय शासक वर्ग-जो विकसित राष्ट्रों के ऊपरी तबकों से मिलकर बना है—ने अपने संविधान में भारत को एक "संघ" का रूप दिया और इसके अन्तर्गत विभिन्न राज्यों का गठन किया। १९४७ में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन के अन्त के बाद कांग्रेस सरकार द्वारा भारतीय राज्यों के गठन के पीछे मुगलकालीन सूबों की और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रशासनिक सुविधाओं के अनुकूल प्रांतों की व्यवस्था की परंपरा थी जिसमें कुछ विकसित राष्ट्रों की राष्ट्रीयताओं का आधार था, साथ ही कमजोर राष्ट्रों के उत्पीड़न की परम्परा भी शामिल थी। इसका नतीजा वही हुआ जो होना था। तेलुगू राष्ट्र ने "विशाल आंध्र" के निर्माण के लिए आंदोलन चलाया क्योंकि बहुत-से तेलुगू-भाषी इलाके हैदराबाद रियासत में होने के अलावा मद्रास राज्य के अंदर भी डाल दिये गए थे। "विशाल आंध्र" का नारा, जो तेलुगू राष्ट्र की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति था, तेलंगाना—क्रांति का एक आधार बन गया। फलतः शासक वर्ग ने १९५६ ई० में राज्यों का पुनर्गठन किया। राज्यों के पुनर्गठन के लिए भाषाई आधार के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। राज्यों के पुनर्गठन का भाषाई आधार वस्तुतः कमोबेश राष्ट्रीय आधार ही था

क्योंकि प्रत्येक प्रतिष्ठित भाषा किसी राष्ट्रविशेष की थी और वह अन्य राष्ट्रों की भाषा से अलग थी। ये राज्य अथवा प्रांत एक भाषा-भाषी जनता के राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं और इन राष्ट्रों को एक प्रकार की सीमित प्रादेशिक स्वायत्तता देते हैं। लेकिन राज्यों के पुनर्गठन के कार्यक्रम में सिद्धान्तहीनता की प्रवृत्ति मौजूद थी और उसे साम्राज्यवादी नीतियों की विरासत प्राप्त थे। उदाहरण के लिए हिन्दी भाषी प्रांतों का गठन आपत्तिजनक है क्योंकि हिन्दी, जो खड़ीबोली का साहित्यिक रूप है, सिर्फ मेरठ, मुजफ्फरनगर सहारनपुर, देहरादून तथा बुलंदशहर जिलों की जनता को छोड़कर और किसी भी राष्ट्रीयता की मातृभाषा नहीं है। हिन्दी के नाम पर विभिन्न राष्ट्रीयताओं को तथा-कथित हिन्दी भाषी राज्यों के अन्दर डाल दिया गया है जबकि इन राष्ट्रीयताओं की अपनी-अपनी मातृभाषाएँ हैं। इसलिए राज्यों के पुनर्गठन के बाद भी अलग राज्य बनाने की मांग को लेकर राष्ट्रीय आन्दोलन होते रहें। इन राष्ट्रीय आंदोलनों के सामने सरकार को झुकना पड़ा और बम्बई राज्य को महाराष्ट्र तथा गुजरात में और पंजाब को पंजाब, हरयाणा और हिमांचल प्रदेश में बांटा गया। लेकिन ये सभी राज्य सिर्फ विकसित राष्ट्रों के संघर्ष की सफलता थे। आदिवासी राष्ट्रीयताओं के लिए राज्यों की व्यवस्था की बात एकबार तक सोची भी नहीं गई। नागालैण्ड और मिजोरम इसके अपवाद हैं। नागा और मिजो राष्ट्रीयताएँ भारत संघ से ही अलग होने की माँग कर रहीं थीं और आज भी कर रही है। १९२९ ई० में जब साइमन-कमीशन भारत आया था, उस समय ही नागा राष्ट्र ने भारत से अलग होने की मांग की थी। वे एक लंबे समय से इसके लिए भारत सरकार से युद्ध करते आ रहें हैं, इसलिए उन्हें भारत संघ से अलग होने से रोकने के लिये भारत संघ के अधीन प्रांत के रुप में सीमित प्रादेशिक स्वायत्रता दे दी गई। लेकिन देश के बाकी हिस्सों में, सदियों से दबाए गए, शोषित और उत्पीड़ित आदिवासी राष्ट्रों को कोई "आइडेंटिटी" नहीं दी गई और उनके पृथक राष्ट्रीय व्यक्तित्व को अस्वीकार किया गया तथा उन्हें विकसित राष्ट्रों की सीमाओं के अन्दर ही ठेलठाल दिया गया ताकि आगे भी उनकी अलग राष्ट्रीयता स्थापित नहीं हो सके। १९५६ ई० में राज्यों के पुनर्गठन के समय सरकार ने विभिन्न राज्यों से बच गए इलाकों की कतरनों को जोड़-जोड़कर मध्यप्रदेश जैसे प्रांत का निर्माण करना पसंद कर लिया जहाँ कई भाषा-भाषी विषम राष्ट्रीय स्वरुप एक साथ बलात रखे गए हैं

लेकिन मध्यप्रदेश में लाखों की संख्या में रहनेवाले गोंड, पोरगा आदि मध्य-द्रविड़ आदिवासी राष्ट्र को एक पृथक "नेशनल आइडेंटिटी" देना पसंद नहीं किया। बिहार के छोटानागपुर और उसके आस-पास आदिवासी इलाके जो प्राचीनकाल से झारखंड के नाम से एक पृथक राष्ट्रीय और भौगोलिक व्यक्तित्व रखते आए हैं, को तोड़कर बिहार, बंगाल, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के बीच बाँट दिया गया। यह शताब्दियों से विकसित राष्ट्रीयताओं द्वारा आदिवासियों का शोषण और उत्पीड़न करने, उनके अस्तित्व को नकारने और मिटाने के प्रयत्नों का ही जारी रूप है। इसके खिलाफ इस इलाके के आदिवासियों ने अलग झारखंड प्रांत की मांग का आंदोलन चलाया। यह आंदोलन कई बार तूफान की तरह उठा है। शासक वर्ग बर्बरता के साथ इनका दमन करने और इनके नेतृत्व में घुसपैठ करने के जरिये झारखंड आंदोलन को दबाता रहा है। उसके बावजूद, आंदोलन विकसित होता रहा है और झारखंड के आदिवासियों की आज भी यह सबसे प्रिय लड़ाई है।

कई अन्य समस्याएँ जो राष्ट्रीय रूप ग्रहण करके स्वयं को अभिव्यक्त करती है वे वस्तुतः साम्राज्यवाद के साथ भारतीय राष्ट्रों के बुनियादी अंतर्विरोधों के परिणाम स्वरुप उत्पन्न होती है। साम्राज्यवाद की विश्व-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है उसकी असमान आर्थिक विकास। अपनी इस चरित्रगत विशेषता के अनुरूप साम्राज्यवाद और नव उपनिवेशवाद ने अपने दलाल भारतीय शासक वर्ग के जरिए विभिन्न राष्ट्रों के असमान विकास की नीति को जारी रखा है। राष्ट्रीयकृत बैंकों और निजी व्यवसायिक बैंकों, दोनों ही प्रकार के बैंकों से विभिन्न राज्यों के उद्योगधंधों आदि के लिए जो राशि प्रदान की जाती है, उसमें से हमेशा ही महाराष्ट्र, प० बंगाल, कर्नाटक, तमिलनाडू और गुजरात को अधिकांश राशि दी जाती रही है जबकि बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, आसाम आदि राज्यों को जो राशि दी जाती है, वह लगभग नगण्य होती है जबकि बैंकों में जमा राशि का एक बड़ा भाग इन्हीं राज्यों से आता है। इसी प्रकार पंजाब, हरयाणा, तमिलनाडू तथा प० उत्तरप्रदेश में कृषि का कुछ विकास किया गया लेकिन बिहार, बंगाल, उड़ीसा तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश आदि को भूख और अकाल में मरने के लिए छोड़ दिया गया। एक ही प्रांत बिहार के उत्तरी-पश्चिमी हिस्से का कुछ विकास किया गया लेकिन पूर्वी-दक्षिणी हिस्से को पिछड़ा बनाकर रखा गया। पूर्वी-दक्षिणी

बिहार में उद्योगों की स्थापना अवश्य हुई, लेकिन इन उद्योगों में अधिकांश स्थायी और "स्किल्ड वर्क" की नौकरियाँ स्थानीय लोगों को नहीं बल्कि पश्चिमी-उत्तरी बिहारियों को तथा बाहरी राज्यों के लोगों को दी गईं। इन सबके फलस्वरूप कभी उद्योगों की स्थापना को लेकर, कभी नदियों के पानी को लेकर और कभी नौकरियों के सवाल को लेकर अक्सर छोटे-बड़े आन्दोलन होते रहते हैं। यह है राष्ट्रों में फूट डालने और उनके असमान विकास की साम्राज्यवादी नीति के परिणाम!

लेकिन राष्ट्रीय उत्पीड़न और शोषण सिर्फ साम्राज्यवाद ही नहीं करता है। शोषण पर टिके हुए वर्ग-समाज में हर बड़े और विकसित राष्ट्र में अपने संपर्क में आने वाले छोटे और पिछड़े राष्ट्र का शोषण और उत्पीड़न करने की एक आम प्रवृत्ति होती है। बड़े और विकसित राष्ट्र छोटे और पिछड़े राष्ट्र पर अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश करते हैं। बंगाली राष्ट्र, जो अपने पड़ोसी राष्ट्रों की तुलना में अधिक विकसित है, के किसी भी सदस्य में अपने संपर्क में आए असमी, बिहारी या उड़िया पर प्रभुत्व जमाने की एक आम प्रवृति मिलती है। इसी प्रकार एक तमिल में, एक तेलुगू पर प्रभुत्व जमाने की एक आम प्रवृत्ति मिलती है क्योंकि तेलुगू राष्ट्र तमिल राष्ट्र की तुलना में पिछड़ा हुआ है। लेकिन प्रभुत्व जमाने की इस प्रवृत्ति को साम्राज्यवाद द्वारा भारतीय राष्ट्रों के अथवा भारत के विकसित राष्ट्रों द्वारा आदिवासी राष्ट्रों के शोषण और उत्पीड़न से तुलना नहीं हो सकती क्योंकि ये दोनों गुणात्मक रूप से दो भिन्न स्तरों पर हैं।

वास्तव में भारत के विकसित राष्ट्र अपने-अपने विकास-स्तरों के फर्क के के अनुपात में एक दूसरे को दबाने का प्रयत्न करते हैं और दबाते भी है, लेकिन विकसित राष्ट्रों द्वारा आदिवासी राष्ट्रों का शोषण और उत्पीड़न हर तरह से राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न है। आदिवासी राष्ट्रों के इस राष्ट्रीय प्रश्न की ठोस ऐतिहासिक विशेषता यह है कि आदिवासी राष्ट्र समाज और सभ्यता के विकास की उस सामान्य धारा में प्रवेश नहीं कर सके हैं जिसमें भारत की अपेक्षाकृत विकसित राष्ट्र पहले से ही हैं। विकसित राष्ट्रों और आदिवासी राष्ट्रों में बुनियादी फर्क यही है कि विकसित राष्ट्र राष्ट्र के रुप में संगठित हैं और राष्ट्र के रुप में संगठित होने के कारण उनका विकास हुआ है जबकि आदिवासी राष्ट्र राष्ट्र के रुप में संगठित नहीं हैं और उनकी पृथक राष्ट्रीयता

मान्य नहीं है। पिछड़ी और दलित आदिवासी राष्ट्रीयताओं को हजारों वर्षों से विकसित और शक्तिशाली राष्ट्रीयताओं के आक्रमणों से भागते हुए, उनके दबाव को महसूस करते हुए, उनके शासन के नीचे, उनके साथ एक असमान स्थिति में जीना पड़ा है और आज भी वही स्थिति जारी है। कमजोर होने और राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं हो पाने के कारण इन्हें अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की रक्षा के लिये या तो और भी सिकुड़ कर दुर्गम जंगल-पहाड़ों पर भाग जाना पड़ा अथवा इनके कई अंश विकसित राष्ट्रों द्वारा आत्मसात होकर उनके समाज में शूद्र और हरिजन के रूप में दाखिल होने के लिए बाध्य हुए। पिछले तीन हजार वर्षों से विकसित राष्ट्रों द्वारा खदेड़ी गई आदिवासी राष्ट्रीयताएं जिस चीज से हमेशा वंचित रहीं, जिसके अभाव में वे बाहरी दबावों का सफलता के साथ प्रतिरोध नहीं कर सकीं और जिसे प्राप्त करने के लिए उन्हें कभी भी अनुकूल परिस्थितियाँ ही नहीं मिलीं, लेकिन जिसे भारत की अन्य राष्ट्रीयताओं ने पा लिया था, वह यही चीज, संगठित राष्ट्र है, जिसके अभाव में इनका विकास आज भी अवरुद्ध है। विकसित राष्ट्रों द्वारा सदियों से भगाए और दबाए जाने के कारण इनकी भाषाओं की लिपि नहीं बन सकी, वर्णमालाएँ नहीं बन सकीं, इनका साहित्य लिपिबद्ध नहीं हो सका, इनकी भाषाएँ प्रतिष्ठित और इनकी शिक्षा का माध्यम नहीं हो सकीं, इनमें वर्ग-विभाजन नहीं हो सका और इनकी अर्थव्यवस्था का विकास नहीं हो सका इनकी आत्मसम्मान की भावना कुचल गई और ये राष्ट्रीय हीनता, अकेलेपन और अलगाव की भावना से ग्रस्त हैं। इनका राजनीतिक जीवन और चेतना बहुत सीमित और पिछड़ी हुई है। इन्हें जिन राज्यों के अंदर ठेल दिया गया है, उन राज्यों के राजनीतिक जीवन और आंदोलनों के साथ ये अपनापन अनुभव नहीं करते, उनके प्रति उदासीन रहते हैं। आदिवासी जब अपने लिये पृथक प्रांत की मांग करते हैं, जैसा कि उन्होंने झारखंड आंदोलन के जरिए किया है, तो विकसित राष्ट्र, यहाँ तक कि उनके मजदूर वर्ग भी, आदिवासियों की इस मांग को कुछ हद तक शंका, अविश्वास और विरोध की नजर से देखते हैं। विकसित राष्ट्रों के मजदूर वर्ग की वर्गचेतना अपने राष्ट्रों के शासकवर्ग की विचारधारा और उसके अधराष्ट्रवाद से प्रभावित है, आदिवासियों के शोषण-उत्पीड़न में अपने शासकवर्ग के साथ वह भी एकहद तक शरीक है, उसे आदिवासियों की तुलना में अपने शासकवर्ग से कुछ ऐसे

विशेषाधिकार मिले हुए हैं जो आदिवासी मजदूर और उसके रा नहीं हैं।

इस प्रकार आज भारत में राष्ट्रीय समस्या के मुख्यतः दो पक्ष हैं। एक पक्ष में आदिवासियों समेत भारत के समस्त राष्ट्र हैं जो साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद के नव-उपनिवेशिक शोषण-उत्पीड़न के शिकार हैं। दूसरी तरफ आदिवासी राष्ट्रों और भारत के विकसित राष्ट्रों के बीच के अंतर्विरोध हैं जिसका सारतत्त्व असल में आदिवासियों के राष्ट्र की समस्या है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि भारत में और राष्ट्रीय समस्याएँ नहीं हैं। इसके विपरीत, राष्ट्रीय प्रश्न के संदर्भ में भारत में और भी कई प्रश्न हैं जो बहुत गंभीर और महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे सामने नागा-मिजो राष्ट्रों की, विभाजित काश्मीर की, विभाजित बंगाल की, विभाजित पंजाब की तथा तमिलनाडु की विशिष्ट राष्ट्रीय समस्याएँ हैं। इनके अलावा तथा-कथित हिंदी भाषी राज्यों की राष्ट्रीय समस्या हैं जो मैथिली, मगही आदि भाषाओं और बोलियों के प्रश्न के रूप में उभरती हैं। इनके अलावा आदिवासी राष्ट्रीयताओं के साथ सटी हुई भिन्न भाषा-भाषी राष्ट्रीयताओं की समस्या है जैसे कि छोटानागपुर में खोट्टा अथवा सदानी भाषी राष्ट्रीयता की समस्या। इन सब समस्याओं पर हम अपने अगले लेख में लिखेंगे। यहाँ पर हम सिर्फ भारत की सामान्य राष्ट्रीय समस्या तथा आदिवासियों की विशिष्ट राष्ट्रीय समस्या तक ही स्वयं को सीमित रख रहें हैं।

राष्ट्रीय प्रश्न का सारतत्त्व

राष्ट्रीय प्रश्न, ऐतिहासिक दृष्टि से, असल में जनवादी क्रांति का प्रश्न है। आधुनिक युग में राष्ट्रीय आंदोलनों का आरंभ १८ वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में हुआ था जब यूरोप में बुर्जुवावर्ग सामंतवादी समाज-व्यवस्था को उखाड़कर जनवादी क्रांति पूरी करने में लगा हुआ था। वस्तु-उत्पादन प्रणाली के विकास और उसकी पूर्ण विजय के लिए यह आवश्यक था कि देहाती इलाकों में सामंती उत्पादन संबंधों में कैद उत्पादक शक्तियों को मुक्त करके खेती की उपज का सीधा संबंध बाजार से जोड़ दिया जाए और देश भर में बिखरे हुए बाजारों पर कब्जा करके, उन्हें आपस में संबंधित कर विशाल राष्ट्रीय बाजार की स्थापना की जाए। बाजारों पर कब्जा करने और उन्हें

एक करने के लिए राष्ट्रीय भाषा एक सशक्त माध्यम थी। स्वाभाविक था कि बुर्जुवा राष्ट्रीय भाषा के आधार पर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करता। इस प्रकार राष्ट्रीय राज्य जनवादी क्रांति में से निकला। मध्ययुग में राष्ट्रीयताओं का उदय हो चुका था और बहुत सारे छोटे-छोटे राज्यों और बड़े-बड़े साम्राज्यों के बावजूद बुनियादी राज्यों का आधार कमोबेश राष्ट्रीय था। लेकिन सामंती युग में राष्ट्रों को अपनी स्पष्टता और पूर्णता तक पहुंचने की परिस्थिया उपलब्ध नहीं थी। जिन तीव्र आर्थिक आवश्यकताओं ने बुर्जुवा को राष्ट्रीय राज्यों को बनाने के लिए प्रेरित और बाध्य किया, वे आवश्यकताएँ सामंती उत्पादन प्रणाली में उतनी तीव्र और व्यापक नहीं थीं। इसलिए जब पश्चिमी यूरोप में जनवादी क्रांतियों का दौर समाप्त हुआ, तब पश्चिमी यूरोप ऐसे पूँजीवादी राज्यों की एक सुस्थापित व्यवस्था में बदल चुका था जो सामान्यतः राष्ट्रीय राज्य थे।

पूर्वी यूरोप तथा एशिया और अफ्रीका में जनवादी क्रांतियों का युग १९०५ ई० के आस-पास से शुरू होता है। १९०५ ई० से पूर्वी यूरोप, एशिया और अफ्रिका में बड़े-बड़े राष्ट्रीय आंदोलनों का युग शुरू हुआ। ये आंदोलन पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में हो रहे थे।

लेकिन जब पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद की अवस्था में प्रवेश किया तो उसने राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करने की जगह अन्य राष्ट्रों को अपने साम्राज्य में मिलाना और बहु-राष्ट्रीय राज्यों का ढाँचा कायम रखना शुरू किया। ये बहु-राष्ट्रीय राज्य प्रायः ऐसे देश थे जहाँ अभी तक जनवादी क्रांति नहीं हुई थी। अक्टूबर क्रांति के बाद से इन देशों के बड़े पूँजीपतिवर्ग ने सामंतवाद के साथ समझौता कर लिया और साम्राज्यवाद के आगे समर्पण कर दिया। इस प्रकार बुर्जुवावर्ग ने जनवादी क्रांति और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का नेतृत्व करना छोड़ दिया। जनवादी क्रांति और राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के नेतृत्व का भार सर्वहारावर्ग के कंधों पर आ गया, लेकिन निम्न-पूँजीवादीवर्ग राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में फिर भी क्रांतिकारी भूमिका निभाता रहा और जहाँ सर्वहारावर्ग कमजोर अथवा संगठित नहीं है, वहाँ निम्नपूँजीवादीवर्ग राष्ट्रीय आंदोलन में अस्थायी तौर पर नेतृत्व भी देता है।

साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद ने आज एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के अर्ध-विकसित देशों पर अपना राजनीतिक, आर्थिक और

सांस्कृतिक प्रभुत्व जमा रखा है। यह साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद है जो आज तीसरी दुनियाँ के देशों का राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न कर रहा है। फलतः आज राष्ट्रीय प्रश्न साम्राज्यवाद विरोधी नई जनवादी क्रांति का अभिन्न अंग बन गए हैं। राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम कम्युनिस्टों के लिए आज विश्व-समाजवादी क्रांति की एक रणनीति है।

राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार

राष्ट्रीय प्रश्न के हल के लिए हम कम्युनिस्ट राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मानते हैं। राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का अर्थ लेनिन ने बतलाया कि।

"The right of nations to selfdetermination implies exclusively the right to independence in the political sense the right to free, political separation from the oppressor nation. Specifically this demand for political democracy implies complete freedom to agitate for secession and for a referendum on secession by the seceding nation."

— " On National Colonial Question " p. 33

["जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार से राजनीतिक अर्थ में स्वाधीनता के अधिकार, उत्पीड़क राष्ट्र से स्वतंत्र राजनीतिक अलगाव के अधिकार की ही व्यंजना होती है। व्यवहारतः राजनीतिक जनवाद की इस मांग से अलगाव के लिए तथा अलगाव का निर्णय पृथक होनेवाली जाति के मत संग्रह द्वारा किए जाने के लिए आंदोलन करने की पूर्ण स्वतंत्रता की व्यंजना होती है।"]

स्तालिन ने राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का अर्थ बतलाते हुए लिखा

" The right of seff-determination means that a nation may arrange its life in the way it wishes. It has the right to arrange its life on the basis of autonomy. It has the right to enter into federal relations with other nations. It has the right to complete secession. Nations are soveriegn and all nations have equal rights."

—the same, p. 75

["राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का अर्थ यह है कि एक राष्ट्र अपनी इच्छानुसार अपना जीवन निर्धारित कर सकता है। इसे स्वायत्तता के आधार पर अपना जीवन निर्धारित करने का अधिकार है। इसे अधिकार है कि यह दूसरे राष्ट्रों के साथ संघ बनाकर रहे। इसे पूरी तरह अलग हो जाने का अधिकार है। राष्ट्र प्रभुसत्ता संपन्न हैं और सभी राष्ट्रों को समान अधिकार हैं।"]

जहाँ तक संघ और स्वयत्तता की बात है, इनमें से पहला अर्थात् संघ स्वेच्छा पर आधारित एक समझौता है और दूसरा अर्थात् स्वायत्तता एक जनवादी शासन-व्यवस्था का आम नियम है; लेकिन ये दोनों ही, जैसा कि लेनिन ने एक जगह लिखा है, अमूर्त रूप से आत्मनिर्णय की श्रेणी के अंदर आ जाते हैं। ["....although, speaking in the abstract, both come under the category of self determination."—same, p. 28] और राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ इनका कोई अंतर्विरोध नहीं है। लेकिन मुख्यः बात यह है कि आत्मनिर्णय का अधिकार सिर्फ स्वायत्तता और संघ तक सीमित नहीं है, प्रधानतः और मूलतः वह अलग हो जाने का राजनीतिक अधिकार है। संशोधनवादियों, अवसरवादियों, सामाजिक-साम्राज्यवादियों और अंधराष्ट्रवादियों ने समय-समय पर आत्मनिर्णय के अधिकार में संशोधन करने के प्रयत्न किए और उसके अर्थ को सीमित और विकृत करते हुए स्वायत्तता, राष्ट्रीय स्वायत्तता तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्वायत्तता आदि के सिद्धांत पेश किए। उनकी विशेषता इस बात में नहीं थी कि उन्होंने भी स्तालिन की तरह स्वायत्तता और संघ की बात कही। बल्कि उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने विश्वासघातकपूर्ण ढंग से राष्ट्रों के अलग होने के अधिकार को—आत्मनिर्णय के अधिकार की आत्मा—तिलांजलि दे दी, इस मूल अधिकार का निषेध किया और इस तरह उन्होंने साम्राज्यवाद और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के शासकवर्गों की सेवा की।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) ने अपनी सातवीं पार्टी कांग्रेस में अपने पार्टी कार्यक्रम में से राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की धारा को यह कहते हुए निकाल दिया कि भारत १९४७ ई० में साम्राज्यवाद से राजनीतिक रूप से मुक्त हो चुका है। यह सरासर नव उपनिवेशवाद के आगे आत्मसमर्पण है। यह सही है कि नवउपनिवेशवाद के शोषण से राष्ट्रीय मुक्ति

पाने के लिए भारत के राष्ट्रों को एक-दूसरे से अलग नहीं होना चाहिए क्योंकि यह इन सब राष्ट्रों की जनताओं और सर्वहारागणों के हित में है कि वे मिलकर साम्राज्यवाद और नवउपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष करें। लेकिन यह बिलकुल भिन्न बात है। सर्वहारावर्ग का हित एक चीज है और एक राष्ट्र, जो कई वर्गों से मिलकर बनता है, का अधिकार बिलकुल दूसरी चीज है। हम निश्चय ही सर्वहारा के हितों को प्रधानता देते है, उसका प्रचार करते हैं, उसके लिए लड़ते है, लेकिन इससे यह तो साबित नहीं होता कि राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं है!

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के साथ अपनी गद्दारी को उचित ठहराने के लिए दूसरा मुख्य तर्क यह देती है कि राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार सिर्फ वहीं लागू होता है जहाँ शोषक और शोषित राष्ट्र हों और चूँकि भारत के राष्ट्रों के बीच कोई शोषक और शोषित नहीं है, इसलिए भारत के राष्ट्रों को आत्मनिर्णय के अधिकार की कोई आवश्यकता नहीं है। मार्क्सवादी पार्टी की यह समझदारी कितनी गलत, धूर्ततापूर्ण और गैर-मार्क्सवादी है, इसपर हम विस्तृत चर्चा करना नहीं चाहते। हम सिर्फ मार्क्सवाद के इस क, ख, ग, को इन बेशर्म गद्दारों को एकबार फिर याद भर दिला देना चाहते हैं कि एक ऐसे समाज में, जो शोषण के आधार पर टिका है और ताकतवर और कमजोर, बड़े और छोटे के बीच बंटा हुआ है, वहाँ आगे बढ़े हुए राष्ट्र और पिछड़े राष्ट्र, तुलनात्मक रूप से विकसित राष्ट्र और कमजोर राष्ट्र के बीच शोषक और शोषित का संबंध—चाहे वह जिस भी अनुपात में हो—नहीं होगा, यह बात सिर्फ एक पूँजीवादी—भाववादी प्रलाप है।

क्या भारत में आदिवासी राष्ट्रों और विकसित राष्ट्रों के बीच का संबंध शोषणपूर्ण नहीं है? इस पार्टी ने राष्ट्रीय प्रश्न पर अपनी टिप्पणी में झिझकते हुए यह स्वीकार किया है कि भारत में आदिवासी राष्ट्रों का विकसित राष्ट्रों द्वारा "एक प्रकार का राष्ट्रीय उत्पीड़न" होता है। फिर भी पार्टी ने आदिवासी राष्ट्रों के अलग होने के अधिकार को नहीं माना है। यह खुल्लमखुल्ला नवउपनिवेशवाद और भारतीय शासकवर्ग के निकृष्ट स्वार्थों और विकसित राष्ट्रों के शोषणपूर्ण अंधराष्ट्रवाद का समर्थन छोड़कर और कुछ नहीं है। भारत विभिन्न राष्ट्रों की स्वेच्छा से किसी समझौते पर आधारित संघ नहीं है बल्कि

भारत के प्रतिक्रियावादी शासकवर्ग ने अपनी बंदूकों के बल पर इन अलग-अलग राष्ट्रों को बलात संघ में रखा है। जो भी इस तथाकथित संघ से इन राष्ट्रों के अलग होने के अधिकारों का विरोध करता है, वह वास्तव में प्रतिक्रियावादी शासकवर्ग का दलाल और अंध राष्ट्रवादी है।

राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार सिर्फ मौजूदा राष्ट्रीय शोषण के ही विरुद्ध लड़ने का हथियार नहीं है, बल्कि यह भावी शोषण के विरुद्ध भी संघर्ष करने का उपाय है और राष्ट्रों को राष्ट्रीय उत्पीड़न की सभी प्रकार की प्रवृत्तियों से बचाने के लिए दी गई गारण्टी है। इसलिए राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार सिर्फ उन्हीं राष्ट्रों तक सीमित नहीं हो सकता जो सिर्फ मौजूदा समय में शोषक और शोषित का संबंध रखते हैं, बल्कि यह समान रूप से सभी राष्ट्रों के लिए है। यह बिलकुल वैसी ही बात है जैसे तलाक देने का अधिकार सिर्फ उन्हीं पति-पत्नियों को नहीं होता जिनके संबंध आपस में बिगड़ गए हैं, बल्कि यह विवाह करने वाली प्रत्येक दम्पति को समान रूप से होता है। जबतक दुनिया में राष्ट्र रहेंगे, राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार भी रहेगा। जहाँ भी बहु-राष्ट्रीय राज्य हैं, वहाँ आत्मनिर्णय का अधिकार उस राज्य के प्रत्येक राष्ट्र को होगा। अगर किसी राष्ट्र को अपनी इच्छा से संघ में शामिल होने का अधिकार है तो उसे अपनी इच्छा से उससे अलग हो जाने का भी अधिकार है।

जहाँ एक ओर भारत की संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टियाँ राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार—अलगाव के राजनीतिक अधिकार के प्रति गद्दारी करती हैं और उसका निषेध करती हैं, वहाँ दूसरी ओर, भारत के कुछ कम्यूनिस्ट क्रांतिकारी ग्रुप राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकारको तो मानते हैं लेकिन व्यवहार में इसका अर्थ "अलग हो जाना ही" लगाकर इस सिद्धान्त को यांत्रिक और अनैतिहासिक दृष्टिकोण से देखते हैं।

आत्मनिर्णय के अधिकार का मतलब अलग हो जाने का अधिकार है, लेकिन जिस प्रकार तलाक देने के अधिकार का मतलब तलाक दे देना ही नहीं होता अथवा गर्भपात कराने के अधिकार का मतलब गर्भपात कराना ही नहीं होता है, उसी प्रकार अलग हो जाने के अधिकार का मतलब अलग हो जाना ही नहीं होता है। किसी भी राष्ट्र को पराए राष्ट्रों से अलग हो जाने का अधिकार है, लेकिन वह इस अधिकार का प्रयोग करके व्यवहार में अलग हो

जाए अथवा नहीं, यह एक भिन्न प्रश्न है जो कई अन्य बातों पर निर्भर करता है। इसलिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी किसी राष्ट्र के आत्मनिर्णय के अधिकार को मानते हुए भी किसी राष्ट्र के हर हालत में व्यवहार में अलग हो जाने का समर्थन करे—यह आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत, मार्क्सवादियों को यह अधिकार है कि वह किसी राष्ट्र के अलग हो जाने के निर्णय के खिलाफ आंदोलन करे और लड़े। असल में आत्म-निर्णय के अधिकार का प्रयोग निर्भर करता है। उस राष्ट्र की ऐतिहासिक विकास की अवस्था पर, उसकी आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक परिस्थितियों पर। इसलिए एक ओर राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार है तो दूसरी ओर कम्युनिष्टों का कुछ कर्त्तव्य भी है जो सर्वहारावर्ग के हितों के द्वारा निर्धारित होता है। कम्युनिस्ट राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार सौपकर खुद हाथ पर हाथ रखकर बैठे नहीं रह सकते। उनका कर्त्तव्य है कि वे उस राष्ट्र के सर्वहारावर्ग के हितों को देखते हुए, समाजवादी क्रांति के हितों को देखते हुये, एक निश्चित योजना के साथ आगे आएं और राष्ट्र-विशेष की ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर उसकी राष्ट्रीय समस्या के हल को प्रस्तुत करें। इस संबंध में हम यहाँ स्तालिन का एक उद्धरण प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं। स्तालिन लिखता है :—

'A nation has the right to arrange its life on autonomous lines. It even has the right to secede. But this does not mean that it should do so under all circumstances, that autonomy, or separation, will every-where and always be advantageous for a nation, i.e., for its majority, i e., for the toiling strata. The Transcaucasian Tatars as a nation may assemble, let us say, in their Diet and, succumbing to the influence of their begs and mullahs, decide to restore the old order of things and to secede from the state. According to the meaning of the clause on self-determination they are fully entitled to do so. But will this be in the interest of the toiling strata of the Tatar nation? Can social-demo-

cracy look on indifferently when the begs and mullahs assume the leadership of the masses in the solution of the national question? Should not social-democracy interfere in the matter and influence the will of the nation in a definite way? Should it not come forward with a definite plan for the solution of the question, a plan which would be most advantageous for the Tatar masses?

But what solution would be most compatible with the interests of the toiling masses? Autonomy, federation or separation?

All these are problems the solution of which will depend on the concrete historical conditions in which the given nation finds itself"

—"National Colonial Question", p. 76.

["... किसी राष्ट्र को यह अधिकार है कि वह अपना जीवन स्वायत्तता के आधार पर व्यवस्थित करे। उसे अलग हो जाने का अधिकार भी है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे हर परिस्थिति में ऐसा ही करना चाहिए, कि स्वायत्तता या अलगाव एक राष्ट्र के लिए, अर्थात् उसके बहुमत के लिए, अर्थात् उसकी मेहनतकश जनता के लिए हमेंशा और हर जगह लाभदायक होगा। मान लीजिये, ट्रान्सकाकेसियन तातार एक राष्ट्र के रूप में अपने संसद में इकट्ठे होते हैं और उनके मुल्लाओं के प्रभाव में आकर यह निर्णय कर सकते हैं कि पुरानी व्यवस्था में लौट जाँय और राज्य से अलग हो जाँय। आत्म निर्णय के अधिकारों के धारा के अर्थ के मुताबिक उन्हें ऐसा करने का पूरा अधिकार है। लेकिन क्या यह तातार राष्ट्र के मेहनतकशों के हित में होगा? क्या सामाजिक जनवाद यह नजरअंदाज कर सकता है जब मुल्ला लोग राष्ट्रीय प्रश्न के हल में जनता के नेतृत्व को हाथ में लेते हैं? क्या सामाजिक जनवाद को इस बिषय में हस्तक्षेप करके राष्ट्र की इच्छा को एक निर्दिष्ट दिशा में प्रभावित नहीं करना चाहिये? क्या उसे इस प्रश्न के हल के लिये एक निश्चित योजना के साथ सामने नहीं आना चाहिये, एक ऐसी योजना जो तातार जनता के लिये सबसे ज्यादा फायदेमंद हो?

लेकिन कौन सा हल मेहनतकश जनता के हितों के सर्वाधिक अनुकूल होगा? स्वायत्तता, संघ या अलगाव?

ये सभी वे समस्यायें हैं जिनका हल उनसारे ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें वह राष्ट्र अपने को पाता है।)

स्तालिन के उपरोक्त उद्धरण से तीन महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट हो जाती है:-

i) आत्मनिर्णय के अधिकार का अर्थ व्यवहार में हर हालत में अलग हो जाना नहीं होता।

ii) राष्ट्रीय समस्या का हल उस राष्ट्र की ऐतिहासिक परिस्थितियों के विश्लेषण पर निर्भर करता है।

iii) कम्युनिस्ट राष्ट्रीय प्रश्न के हल के लिए राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार सौंप कर खुद हाथ पर हाथ रखकर चुपचाप बैठे नहीं रह सकते।

अगर एक ओर राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की स्पष्ट रूप से मान्यता है तो दूसरी ओर, इतने ही असंदिग्ध रूप से कम्युनिस्टों का कर्त्तव्य हैं कि वे उस राष्ट्रविशेष की ऐतिहासिक परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर उस राष्ट्र के लिए व्यवहार में सर्वोत्तम हल को बतलाएँ, उसका प्रचार करें और उसके लिए लड़े।

चूँकि किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय समस्या का हल उस राष्ट्र की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, इसलिए यह संभव है कि प्रत्येक राष्ट्र की समस्या का व्यवहारिक हल अलग-अलग निकले। स्तालिन ने लिखा है :—

"It is possible that a specific solution of the question will be required for each nation. If the dialectical approach to a question is required any where, it is required here, in the national question"

—the same, p. 77.

["यह संभव है कि प्रत्येक राष्ट्र के लिए समस्या के एक विशिष्ट हल की जरूरत पड़े। अगर किसी समस्या के प्रति द्वंद्वात्मक 'एप्रोच' की कहीं जरूरत है तो वह यहाँ, राष्ट्रीय समस्या में है।"]

लेकिन, किसी राष्ट्र-विशेष की राष्ट्रीय समस्या का विशिष्ट हल चाहे कुछ भी क्यों न हो, हर हालत में सर्वहारावर्ग की पार्टी का लक्ष्य और दृष्टिकोण

राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के जरिए राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न को खत्म करना, राष्ट्रों के बीच सभी प्रकार के विशेषाधिकारों का अंत करना, राष्ट्रों के बीच समानता कायम करना और समानता के आधार पर विभिन्न राष्ट्रों के सर्वहारागणों की मैत्री और एकता को और इस प्रकार सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद को और भी सुदृढ़ बनाना ही होगा।

भारत में राष्ट्रीय प्रश्न का हल

हम कम्युनिस्ट भारत के सभी राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार करते हैं और इसके लिए लड़ते हैं। भारतीय शासकवर्ग साम्राज्यवाद, सामाजिक साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद का दलाल और प्रतिक्रियावादी, नौकरशाह, पूँजीपति और सामंतीवर्ग हैं। इस शासकवर्ग के जरिए साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद भारत के सभी राष्ट्रों का शोषण और उत्पीड़न करता है। नव उपनिवेशवाद ने भारत के सभी राष्ट्रों की जनवादी क्रांति को अवरुद्ध कर रखा है। भारत के सभी राष्ट्रों की राष्ट्रीय मुक्ति इन राष्ट्रों के साम्राज्यवाद, सामाजिक साम्राज्यवाद और इनके दलाल भारतीय शासकवर्ग के शोषण-चक्र से मुक्त हो जाने में है। भारत के सभी राष्ट्रों को भारत-संघ से अलग हो जाने का पूरा अधिकार है। आदिवासियों समेत भारत के सभी राष्ट्र अपने इस अधिकार को साम्राज्यवाद विरोधी, सामंतवादविरोधी एक नई जनवादी क्रांति के जरिए ही हासिल कर सकते हैं। नये जनवादी भारत में सभी राष्ट्रों को अपने स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों के गठन का पूरा अधिकार होगा। आज तथाकथित भारतीय संघ की जो ईकाइयाँ हैं—जो विभिन्न राज्यों के रुप में हैं—उन्हें भारतसंघ से अलग होने का अधिकार नहीं है। इसलिए वर्त्तमान भारतीयसंघ एक झूठा संघ है, यह एक वास्तविक संघ नहीं होकर विभिन्न राष्ट्रीयताओं पर बलपूर्वक लादा गया केन्द्रीय शासन है। लेकिन नये जनवादी भारत में जो संघ होगा, जो कि विभिन्न राष्ट्रों की जनता और उनके सर्वहाराओं की एकता की दृष्टि से अवश्य होना भी चाहिए, स्वेच्छा पर आधारित एक वास्तविक संघ होगा जिससे राष्ट्रों को जब चाहे अलग हो जाने का वास्तविक अधिकार होगा। नये जनवादी भारतीय संघ की विभिन्न ईकाइयों को—जो सभी राष्ट्रों के अपने-अपने राज्यों अथवा गणतंत्रों के रुप में होंगी, चाहे वे राष्ट्र कितने भी छोटे क्यों न हों—

अपने राष्ट्रीय विकास के लिए आवश्यक सभी मामलों में व्यापक स्वायत्तता प्राप्त होगी जो कि मौजूदा भारतीय राज्यों की स्वायत्तता की तुलना में अधिक वास्तविक और अधिक विस्तृत होगी। वैसी आदिवासी राष्ट्रीयताओं को भी, जिनकी जनसंख्या बहुत ही कम है, भारतीय संघ से अलग होने का पूरा अधिकार रहेगा और संघ के अन्दर उनके भी अलग राज्य अथवा गणतंत्र होंगे जिन्हें उनके विकास की आवश्यकतानुसार व्यापक स्वायत्तता प्राप्त होगी। उनकी भाषाओं की लिपियाँ, वर्णमालाएँ और व्याकरण तैयार किए जाएंगे। उनकी भाषा उनकी शिक्षा और स्थानीय प्रशासनकार्य का माध्यम बनेंगी। सभी राष्ट्रों के समान अधिकार होंगे और किसी भी राष्ट्र को कोई विशेषाधिकार नहीं होगा। इस प्रकार आत्मनिर्णय के अधिकार के जरिए भारत के विभिन्न राष्ट्रों के बीच राष्ट्रीय असमानता को मिटाकर उन्हें विकास के समान स्तर पर ले आने का प्रयास किया जाएगा और पहले से आगे बढ़े हुए राष्ट्रों द्वारा पिछड़े और छोटे राष्ट्रों को दबाने, उनपर प्रभुत्व जमाने की सभी प्रवृत्तियों को असंभव बना दिया जाएगा।

आदिवासियों की विशिष्ट राष्ट्रीय समस्या का हल

लेकिन जैसा कि हम शुरू में ही देख आए है, भारत में आदिवासी राष्ट्रों की समस्या दो-तरफा है। एक ओर तो एक आम समस्या है साम्राज्यवाद और नवउपनिवेशवाद तथा उसके दलाल भारतीय शासकवर्ग के शोषण और उत्पीड़न से राष्ट्रीय मुक्ति प्राप्त करने की समस्या। यह समस्या सिर्फ आदिवासियों की नहीं है, बल्कि आदिवासी राष्ट्रों और भारत के अपेक्षाकृत विकसित समस्त राष्ट्रों की सम्मिलित और आम समस्या है। लेकिन, दूसरी ओर, विकसित राष्ट्रों के साथ आदिवासी राष्ट्रों की गहरी असमानता तथा विकसित राष्ट्रों द्वारा आदिवासी राष्ट्रों के राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न की समस्या है जिसके फलस्वरुप आदिवासी राष्ट्रीयताएँ आज तक स्वयं को एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं कर सकीं और राष्ट्र के रूप में संगठित विकसित राष्ट्रीयताएँ आदिवासियों की तुलना में विशेषाधिकारों का उपभोग करती रहीं है।

इसलिए, हम साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद के शोषण-उत्पीड़न से भारत की राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यक्रम रखने के साथ-साथ भारत

में रहनेवाली विभिन्न आदिवासी राष्ट्रीयताओं के लिए अलग प्रांतों की मांग करते हैं जिसके अन्दर ये राष्ट्रीयताएँ स्वयं को राष्ट्र के रूप में संगठित करने का आधार और अवसर पाएँगी। भारत में मौजूदा प्रांत एक ऐसी सीमित प्रादेशिक स्वायत्तता है जिसके आधार पर एक राष्ट्र स्वयं को संगठित कर सकता है और प्रांत के रूप में अपने राष्ट्र को एक ठोस रूप दे सकता है। इन राष्ट्रीयताओं के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आज यही एकमात्र सही नारा हो सकता है कि आदिवासी राष्ट्रों की पृथक 'आइडेंटिटी' को स्वीकार करो और उनके अलग प्रांत बनाओ।

जो भी इस नारे को अस्वीकार करता है वह आदिवासी राष्ट्रों के जीवन और चेतना के ऐतिहासिक विकास की वस्तुगत अवस्थाओं को अस्वीकार करता है और साथ ही इन राष्ट्रों को विकसित राष्ट्रों के राज्यों की सीमाओं के अंदर बलात् रखने की नीति को जारी रखने और विकसित राष्ट्रों द्वारा उनके राष्ट्रीय शोषण-उत्पीड़न को जारी रखने का समर्थन करता है।

प्रांतों के रूप में आदिवासियों के राष्ट्रों का संगठन विकसित राष्ट्रों के साथ उनकी समानता और मैत्री कायम करने के लिए अनिवार्य है। भारत के विकसित राष्ट्रों ने प्रांतों के रुप में अपने राष्ट्र को सगठित कर रखा है। जो उनके राष्ट्रीय विकास का आधार है। लेकिन आदिवासी राष्ट्रीयताएँ शताब्दियों से अपने राष्ट्र को संगठित करने के अवसर और अधिकार से वंचित रखी गई हैं और आज भी वंचित हैं। विकसित राष्ट्र आदिवासियों को यह अधिकार कभी भी देना नहीं चाहते और कम्युनिस्टों ने आजतक आदिवासियों के इस अधिकार को प्राप्ति के लिए कभी संघर्ष नहीं चलाया। इसके फल-स्वरुप आदिवासी राष्ट्रों और विकसित राष्ट्रों के बीच एक विभाजन पैदा हुआ। राष्ट्र के रूप में संगठित प्रांत संपन्न विकसित राष्ट्र की जनता कुछ ऐसे विशेषाधिकारों का उपभोग करती है जो आदिवासी राष्ट्रों की जनता नहीं करती। उदाहरण के लिए नौकरी की सुविधा, मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा संबंधी सुविधाएँ और अपनी राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के विकास के लिए सुविधाएँ आदि। इस असमानता, विशेषाधिकार और राष्ट्रीय उत्पीड़न तथा शोषण के फलस्वरुप आदिवासी राष्ट्र विकसित राष्ट्रों को शंका, अविश्वास और घृणा की नजर से देखते हैं। यह चीज आदिवासी राष्ट्रों के सर्वहारा और विकसित राष्ट्रों के सर्वहारा की आपसी मैत्री तथा एकता को हमेशा कमजोर करती रहेगी।

यह चीज साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनकी लड़ाई को—जो कि उनकी सम्मिलित लड़ाई है — कमजोर बनाती रहेगी। बिना उनके राष्ट्र का संगठन हुए, जो कि प्रांतों के रूप में होगा, इस अविश्वास, अलगाव और असमानता को दूर नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, प्रांतों के रुप में आदिवासियों के राष्ट्र का संगठन उनके ऐतिहासिक विकास की एक अनिवार्य शर्त को पूरा कर देगा और विकसित राष्ट्रों के साथ उनकी राष्ट्रीय समानता को कायम कर देगा। प्रांत के रुप में आदिवासियों के राष्ट्र का संगठन विकसित और आदिवासी राष्ट्रों के बीच विशेषाधिकारों की स्थिति को समाप्त कर देगा। भारत में सभी राष्ट्रों की समानता के लिए, और इस समानता के आधार पर उनके सर्वहारागणों की आपसी मैत्री तथा एकता को और सुदृढ़ करने के लिए प्रांत-हीन राष्ट्रों और खासकर आदिवासी राष्ट्रों के प्रांतों का होना अनिवार्य है।

आदिवासियों के अन्दर गति पैदा करने के लिए उनके राष्ट्र का संगठन करना अनिवार्य है। आदिवासी पिछड़े हुए हैं क्योंकि वे गतिहीन हैं, और वे गतिहीन हैं क्योंकि वे राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं हैं। आदिवासी इस देश की राजनीतिक घटनाओं से आंदोलित नहीं होते। सामान्य उथल-पुथल और राजनीतिक आन्दोलनों से वे अछूते रहते हैं क्योंकि वे उसे पराए राष्ट्रों का जीवन समझते हैं। लेकिन आदिवासी भी गतिशील होते हैं जब उनके राष्ट्र के नाम पर उनका आह्वान किया जाता है। झारखंड प्रांत की लड़ाई आज भी अगर झारखंड के मुण्डा, संथाल, हो तथा उराँव आदि आदिवासियों को प्रचण्ड रूप से गतिशील बना देती है तो इसका कारण सिर्फ यही है कि उनके राष्ट्र के संगठन की लड़ाई है। उत्पीड़ित राष्ट्र का राष्ट्रवाद एक क्रांतिकारी तत्त्व होता है। भारत की दोनों संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टियाँ, जिन्होंने राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के सिद्धांत को तिलांजली दे दी है, आदिवासियों के लिए पृथक प्रांतों की मांग का विरोध करती हैं और उनके लिए स्वायत्त संस्थाओं तथा विकास परिषदों की मांग करती हैं। ऐसी कुछ स्वायत्त संस्थाओं और विकास परिषदों को स्वयं सरकार ने पहले ही बना रखा है। पिछले २७ वर्षों से सरकार करोड़ो रुपए आदिवासियो के कल्याण और विकास के नाम पर खर्च करती आ रही है। लेकिन इन सबका नतीजा क्या निकला? क्या मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का मंत्रीमंडल ऐसी स्वायत्त

संस्थाओं और विकास परिषदों की संख्या को बढ़ाकर तथा उन्हें और भी ईमानदारी और कारगर ढंग से चलाकर कुछ भिन्न निष्कर्ष प्राप्त कर लेगा? संशोधनवादी पार्टियाँ जिस बुनियादी तथ्य को आसानी के साथ भुला देती हैं वह यह है कि किसी भी राष्ट्र में गति उसे बाहर से सहायता देकर पैदा नहीं की जा सकती, वह गति मूलतः उसके अंदर से ही पैदा हो सकती है। स्वयं इन पार्टियों के संसद-सदस्यों ने अपने भाषणों और लेखों में तथा स्वयं आदिवासियों की समस्याओं का जाँच-पड़ताल करनेवाले सरकारी आयोगों ने अपनी रिपोर्टों में इस बात का पर्याप्त रोना रोया है कि सरकार द्वारा बाहर से दी गई सहायता और विकास-परिषदों द्वारा किए गए प्रयत्नों से २७ वर्षों के बाद भी आदिवासियों के अंदर विकास का क्रम और गति पैदा नहीं हो सकी है।...और हमारे लिए इसका कारण समझना बहुत आसान है। कारण सिर्फ इतना ही है कि विकसित राष्ट्र, जिन पर आदिवासियों के अंदर गति पैदा करने और उनका विकास करने का दायित्व है, अपने अंदर एक राष्ट्रीय श्रेष्ठता की भावना रखते हैं, वे आदिवासियों को हिकारत की नजर से देखते हैं और अपने अपने राज्यों के अंदर उनके शोषण की सुविधापूर्ण परिस्थितियों को पाकर उनका शोषण और उत्पीड़न करते हैं। दूसरी ओर आदिवासी राष्ट्र भी अपने विकास के इन "ठेकेदारों" को अविश्वास की दृष्टि से और अपने अपने शोषकों के रूप में देखते हैं जो बिलकुल स्वाभाविक ही है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी प्रांतों के रूप में आदिवासियों के राष्ट्र के संगठन के प्रश्न को तो नहीं उठाती लेकिन इसकी जगह उनकी अन्य समस्याओं की मौखिक रूप से चर्चा करती रहती हैं, मसलन उनकी भाषा और शिक्षा की समस्या, जंगलों पर उनके अधिकार की समस्या, उनकी ऋण-ग्रस्तता की समस्या, उनकी नौकरियों की समस्या, और उनकी जमीन की आदि-आदि। प्रश्न है कि क्या आदिवासियों की ये सभी समस्याएँ एक-दूसरे से विच्छिन्न और अपने-आप में स्वतंत्र हैं? इसके बिपरीत, क्या ये सभी समस्याएँ आपस में घनिष्ठ रुप से संबंधित और एक-दूसरे पर निर्भर नहीं है? आदिवासियों की समस्याओं को इस तरह एक दूसरे से विच्छिन्न करके देखना और इनके उस मूल को—उनके राष्ट्र के संगठन की समस्या को—नहीं देखना जिसको कि उपरोक्त समस्याएँ प्रतिबिंबित करती है, एक कोरा भाववादी दृष्टिकोण है। इतना ही नहीं, अगर हम

यह भी पूछें कि क्या आदिवासियों को उपरोक्त सभी समस्याएँ आज ही पैदा हुई हैं अथवा क्या ये अचानक आसमान से टपकती है? क्या ये सभी समस्याएँ अतीत के गर्भ से पैदा होकर धीरे-धीरे विकसित होकर आज की अवस्था में नहीं पहुँची हैं? अगर हम यह सब प्रश्न भी पूछें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासियों की समस्याओं के प्रति इन दोनों संशोधनवादी पार्टियों की दृष्टिकोण पूरी तरह से भाववादी और अनैतिहासिक है और इसी के आधार पर ये अपने हल को भी प्रस्तुत करते हैं?

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भी राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के सिद्धांत को काफी उत्साह के साथ तिलांजली दे देने के बाद अपने आठवें राष्ट्रीय कार्यक्रम में आदिवासियो को प्रादेशिक स्वायत्तता और जहाँ राज्य की मांग परिपक्व हो चुकी हो वहाँ, राज्य देने का प्रस्ताव पास किया है। लेकिन दूसरी इंटरनेशनल के जर्मन सामाजिक-साम्राज्यवादियों का जो सबसे लाक्षणिक चरित्र था की कथनी में कुछ और करनी में कुछ, उसे इस पार्टी ने पूरी तरह से आत्मसात् कर लिया है। १९७३ई० में झारखंड के आदिवासियों ने झारखंड प्रांत का आंदोलन एक बार फिर जोरों से उठाया तो इस पार्टी ने अपने पार्टी मुखपत्र साप्ताहिक "जनयुग" (हिन्दी) में इसे सी० आई० ए० और शैतानों का सम्मिलित षड्यंत्र बतलाकर इसका विरोध किया।

साम्राज्यवाद विरोधी संग्राम, जो भारत के समस्त राष्ट्रों का सम्मिलित संग्राम है, की सफलता के लिए भी आदिवासियों के राष्ट्र का संगठन अनिवार्य है। हम सभी जानते हैं कि किसी भी देश के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम को कमजोर करने के लिए और उनकी क्रांति में तोड़-फोड़ करने के लिए साम्राज्यवाद उस देश की राष्ट्रीय समस्याओं को लाभ उठाता है। साम्राज्यवाद के इस क्रांति-विरोधी षड्यंत्र को विफल कर देने के लिए यह बिलकुल जरुरी है कि सर्वहारावर्ग की पार्टी राष्ट्रीयप्रश्नों में गंभीर रुचि ले और इनके हल के लिए जोरदार पहलकदमी करे। भारत के संदर्भ में कम्युनिस्टों को आदिवासी राष्ट्रों के राष्ट्रीय प्रश्नों को सुलझाने के लिए खासकर प्रयत्न करने चाहिए। हमें इन राष्ट्रों को आत्म निर्णय का अधिकार हासिल करने के लिए संघर्ष करना चाहिए, इनके राष्ट्रों के संगठन के लिए संघर्ष करना चाहिये और उनके राष्ट्रीय विकास के लिए, जिससे कि ये राष्ट्र भारत के अन्य राष्ट्रों की समानता में आ सकें, बहुत से सुधारात्मक कार्य भी इनके बीच अवश्य चलाने चाहिए।

यह तो साम्राज्यवाद विरोधी संग्राम की सफलता के लिए आदिवासियों के राष्ट्र के संगठन की आवश्यकता का एक पक्ष है। इस आवश्यकता का एक दूसरा पक्ष भी है। एक असंगठित राष्ट्रीयता, जिसका अपना कोई राष्ट्र नहीं है, राजनीतिक दृष्टि से स्वभावतः बहुत पिछड़ी हुई होती है और आसानी के साथ विकसित राष्ट्रों के शोषण और उत्पीड़न का शिकार हो जाती है और उसमें राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं होने के कारण (क्योंकि राष्ट्रीय चेतना का आधार राष्ट्र है और वह राष्ट्र के रुप में संगठित ही नहीं है) वह कभी भी बाहरी राष्ट्रों के खिलाफ एक सफल लड़ाई निरंतर नहीं चला पाती। साम्राज्यवाद के युग में एक ऐसी राष्ट्रीयता जो राष्ट्र के रुप में संगठित नहीं है, वह साम्राज्यवाद विरोधी क्रांति में अपनी समग्र भूमिका निभाने में कमजोर होती है। ब्रिटिश-भारत में आदिवासी राष्ट्रों का ब्रिटिश विरोधी संग्राम इसका प्रमाण है कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रविहीन आदिवासियों का संग्राम कितना पिछड़ा हुआ, एकांगी और स्थानीय चेतना तक सीमित था। लेकिन इसके विपरीत, इन पिछड़ी और दबाई हुई जातियों का अपने राष्ट्रीय अधिकारों के लिए होने वाला संग्राम इन राष्ट्रों को साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में एक प्रबल शक्ति के रुप में सामने ले आता है। पिछड़ी और दबाई हुई राष्ट्रीयताओं के राष्ट्रीय अधिकारों के लिए होने वाले संघर्ष का साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में रुपान्तरित हो जाने का कारण यह है कि साम्राज्यवाद और नवउपनिवेशवाद शोषण के उद्देश्य से विभिन्न राष्ट्रों को पराधीन बनाते हैं, राष्ट्रों के बीच अंतर्विरोध और असमानता पैदा करते हैं और राष्ट्रीय उत्पीड़न की नीति को चलाते हैं। लेकिन ठीक यह चीज साम्राज्यवाद और नव उपनिवेशवाद के विरुद्ध उत्पीड़ित राष्ट्र की जनता को जागृत करने के लिए सबसे तीव्र कारण बन जाती है। पिछड़े हुए और दलित राष्ट्रों के राष्ट्रीय अधिकारों के लिए होनेवाला संघर्ष साम्राज्यवाद के खिलाफ राष्ट्रीय जनता की क्रांतिकारी चेतना को और उत्पीड़ित राष्ट्र के राष्ट्रीय संग्राम के प्रति वर्गसचेतन सर्वहारा के कर्त्तव्यों को जागृत करने के लिए, और इस प्रकार सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय क्रांति की धारा को साम्राज्यवाद के विरुद्ध तीव्र कर देने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। लेनिन ने लिखा है :

"The dialectics of history are such that small nations, powerless as an independent factor in the struggle against

imperialism, play a part as one of the ferments, one of the bacili which help the real anti-imperialist force, the socialist proletariat, to make its appearance on the scene"

—the same, p. 53

["इतिहास की द्वंद्वात्मक गति ऐसी है कि साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में स्वतंत्र कारक-तत्त्व के रुप में शक्तिहीन छोटी जातियाँ एक किण्वन तत्त्व, एक जीवाणु की भूमिका अदा करती हैं, जो वास्तविक साम्राज्यवाद विरोधी शक्ति, समाजवादी सर्वहारा को उभारकर सामने लाने में सहायक होता है।"]

इसलिए अलग होने के अधिकार के बावजूद आज आदिवासियों को व्यवहार में अलग होने की जरुरत नहीं है क्योंकि ऐसा करके वे साम्राज्यवाद और नवउपनिवेशवाद को कभी भी पराजित नहीं कर सकेंगे। प्रांत के रूप में प्रादेशिक स्वायत्तता उन्हें राष्ट्र के रूप में संगठित होने का आधार प्रदान करती हैं। अपने इस राष्ट्रीय अधिकार के लिए बिहार के छोटानागपुर और इसके आस-पास के इलाकों के आदिवासी पहले से ही अपना राष्ट्रीय आंदोलन चला रही हैं। आदिवासियों का यह राष्ट्रीय आंदोलन आदिवासियों को राजनीतिक रूप से संगठित करने और उन्हें साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की भूमिका में और समर्थ बनाने के लिए अनिवार्य माध्यम है। कम्युनिस्टों को इस आंदोलन का न सिर्फ समर्थन करना चाहिए, बल्कि सबसे आगे बढ़कर इनका संगठन और नेतृत्व करना चाहिये, आदिवासियों के राष्ट्रीय अधिकारों की लड़ाई को भारत की साम्राज्यवाद विरोधी जनवादी क्रांति की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग बना देना चाहिए, अन्यथा हम बहुत ही अयोग्य क्रांतिकारी सिद्ध होंगे, जैसा कि लेनिन ने कहा था :—

"We would be very poor revolutionaries if, in the proletariat's great war of liberation for socialism, we did not know how to utilise every popular movment against every single disaster imperialism brings in order to intensify and extend the crisis."

—the same, p. 53

["अगर समाजवाद के लिए सर्वहारा के महान मुक्ति-संघर्ष में हम यह न जानें कि संकट को तीव्र करने तथा उसे व्यापक करने के उद्देश्य से हम

प्रत्येक साम्राज्यवादी दुर्भाग्य के खिलाफ प्रत्येक जन आंदोलन का किस प्रकार इस्तेमाल कर सकते हैं तो हम बड़े कच्चे क्रांतिकारी साबित होंगे।"]

प्रांत की मांग और मार्क्सवाद-लेनिनवाद

भारत में कम्युनिष्टों के नेतृत्व में हुआ प्रथम महान क्रांतिकारी संग्राम "तेलंगाना क्रांति" के नाम से अमर है। तेलंगाना-क्रांति में आंध्रा के कम्युनिस्टों ने "विशाल-आंध्रा" का राष्ट्रीय नारा दिया था जो तेलगाना-क्रांति के प्रमुख आधारों में एक था। "विशाल आंध्रा" के राष्ट्रीय नारे ने तेलुगू राष्ट्र के अंदर एक महान और प्रबल क्रांतिकारी प्रेरणा को जन्म दिया था। भारत जैसे बहु-राष्ट्रीय देश की किसी राष्ट्रीय समस्या को कम्युनिस्ट पार्टी साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी क्रांति का एक आधार किस प्रकार बना सकती है—इसका वह प्रथम उदाहरण था। लेकिन आंध्रा के कम्युनिष्ट अपनी इस लाइन को—राष्ट्रीय प्रश्न को साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी क्रांति का एक आधार बनाने के लाइन को—अखिल भारतीय रूप नहीं दे सके। १९६७ ई० में नक्सलबाड़ी में क्रांति की चिनगारियाँ फूटने के बाद चारू मजूमदार के नेतृत्व में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) तथा क्रांतिकारी शिविर के अन्य कम्युनिस्ट-सगठनों ने तेलगाना-क्रांति में राष्ट्रीय प्रश्न के महत्व से कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की। आज भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के सिद्धांत को मानते हैं और आंध्रा प्रदेश में ही आदिवासियों के बीच उन्होंने क्रांतिकारी संगठन बनाने और आंदोलन चलाने का भी काम किया है। लेकिन राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के सिद्धांत के प्रति अपनी यांत्रिक समझदारी के कारण वे इस सिद्धांत का क्रांतिकारी उपयोग करने में असमर्थ सिद्ध हुए। जिस प्रकार "विशाल आंध्रा" के राष्ट्रीय नारे ने समस्त तेलुगू राष्ट्र में एक महान क्रांतिकारी तूफान का सृजन किया था, उसी प्रकार आंध्रा में रहनेवाली उत्पीड़ित आदिवासी राष्ट्रीयताओं के पृथक प्रांत के रूप में राष्ट्र के संगठन का नारा भी उनमें एक टिकाउ और महान क्रांतिकारी तूफान का सृजन कर सकता है—इसे समझ पाने में वे असमर्थ रहे। इसके क्या कारण हैं?

इसका प्रथम और सर्वोच्च कारण यह है कि वे अर्थात् मौजूदा भारतीय

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन राष्ट्रीय प्रश्न के महत्त्व को ही नही समझते हैं। उन्होंने आदिवासियों के प्रांत के प्रश्न को नहीं उठाया है, लेकिन उन्होंने आदिवासियों के राजनीतिक अलगाव के अधिकार के प्रश्न को भी नहीं उठाया। नागी रेड्डी ने अपने राजनीतिक दस्तावेज में आदिवासियों के प्रश्न तथा राष्ट्रीय प्रश्न (ट्राइबल क्वेश्चन तथा नेशनल प्राँब्लम) के शीर्षक से दो परिच्छेद लिखे हैं। आदिवासियों के प्रश्न शीर्षक के अंतर्गत नागी रेड्डी आदिवासियों के सिर्फ वर्गीय शोषण के प्रश्न को उठाया जो कि समस्त भारत के राष्ट्रों के वर्गीय शोषण के सामान्य वर्ग प्रश्न का ही एक अंग है। नागी रेड्डी ने आदिवासियों के राष्ट्रीय प्रश्न को उठाया ही नहीं, उनकी असमानता और अलगाव तथा अकेलेपन की समस्या को देखा भी नहीं। अपने राष्ट्रीय प्रश्न के शीर्षक के अंतर्गत उन्होंने राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के प्रश्न को उठाया है और यह सही समझदारी भी दिखलाई है, जो कि बहुत-से कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को नहीं है, कि अलग होने के अधिकार का मतलब अलग हो जाना ही नहीं होता। नागा रेड्डी ने भारत के सभी राष्ट्रों की जनताओं और उनके सर्वहाराओं की एकता पर बल दिया है जो उचित ही है। लेकिन दुर्भाग्य से नागी रेड्डी ने आदिवासी राष्ट्रों के राष्ट्रीय प्रश्न को यहाँ भी नहीं उठाया जबकि उन्होंने हिन्दी भाषी राज्यों के राष्ट्रीय प्रश्न को उठाया है। राष्ट्रीय प्रश्न पर उनकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि राष्ट्रीय प्रश्नों के हल में उन्होंने कम्युनिस्टों की, सर्वहारावर्ग की पार्टी की सचेतन और सक्रिय भूमिका को जिस पर कि स्तालिन ने इतना जोर दिया है, एकदम नजरअंदाज कर दिया है। इसके अलावा, उन्होंने यह आशा तो बंधाई है कि जनवादी क्रांति के बाद राष्ट्रीय समस्याओं का हल हो जाएगा, लेकिन यह हल किस प्रकार का होगा और कैसे होगा, यह नहीं लिखा है।

आदिवासियों के राष्ट्रीय प्रश्न और उसके महत्त्व को नहीं समझने के अलावा कुछ कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की एक मुख्यः आपत्ति यह है कि आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग, राजनीतिक अलगाव की मांग, एक क्रांतिकारी मांग है लेकिन प्रांत की मांग, स्वायत्तता की मांग, एक संवैधानिक और सुधारवादी मांग है। इसलिए वे आदिवासियों के लिए अलग प्रांत की मांग का विरोध करते हैं और प्रस्ताव करते हैं कि सभी प्रकार के आर्थिक शोषणों से मुक्ति पाने के लिए आदिवासियों को साम्राज्यवाद के खिलाफ

क्रांतिकारी हथियार बंद संघर्ष करना चाहिए और अपनी पूर्ण स्वाधीनता के लिए लड़ना चाहिए।

पहली बात तो यह है कि आत्मनिर्णय का अधिकार एक राजनीतिक अधिकार है और आर्थिक शोषण के प्रश्न के साथ इसे गडमड कर देने का प्रयत्न गलत है। जब काउत्सकी ने पोलैंड के आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में लिखा था तब रोजा लुक्जेम्बर्ग ने काउत्सकी का यह कहकर विरोध किया था कि अलग हो जाने के बाद भी तो पोलैंड रुस तथा अन्य साम्राज्यवादियों का आर्थिक गुलाम ही रहेगा। इसपर लेनिन ने लिखा था :—

"For the question of their political selfdetermination of nations and their independence as states in bourgeois society, Rosa luxemburg has substituted the question of their economic independence."

the same, p 15

[बुर्जुवा समाज में राष्ट्रों के राजनीतिक आत्म-निर्णय के अधिकार और राज्यों के रुप में उनकी स्वाधीनता के प्रश्न की जगह रोजा लुक्जेम्बर्ग ने उनकी आर्थिक स्वाधीनता के प्रश्न को रख दिया है।]

काउत्सकी के विरोध में रोजा की इन दलीलों पर टिप्पणी करते हुए लेनिन ने लिखा था :—

"After reading such arguments, one can not help marvelling at the author's ability to misunderstand the how and the why of things"

—the same, p 15

[" ऐसी दलीलों को पढ़कर इस बात पर आश्चर्य किए बिना नहीं रहा जा सकता कि इनकी लेखिका में, कौन-सी चीज क्या है, इसे उलटा-पुलटा समझने की कितनी अधिक "क्षमता" है।]

साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का प्रश्न तथा सभी प्रकार के आर्थिक शोषण से "पूर्ण स्वाधीनता" का प्रश्न तो भारत के समस्त राष्ट्रों का, उन राष्ट्रों का भी जिनके राष्ट्र प्रांत के रूप में हैं, समान प्रश्न है, आदिवासी राष्ट्र उसे अलग से हल नहीं कर लेंगे। यहाँ तो प्रश्न आदिवासियों के राष्ट्र का है, उनकी राष्ट्रीय असमानता है जिसे प्रांत संपन्न राष्ट्रों के साथी बार-बार "भूल" जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि यही सही है कि आत्मनिर्णय के अधिकार का मतलब अपने राष्ट्र को राजनीतिक रुप से अलग कर लेने का अधिकार ही होता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि व्यवहार में हर हालत में किसी राष्ट्र को अलग हो जाने से ही अधिक लाभ होगा। व्यवहार में किसी राष्ट्र को कौन-सी व्यवस्था अपनानी चाहिए, इसका फैसला उस राष्ट्र की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। किसी राष्ट्र की ऐतिहासिक परिस्थितियों का विश्लेषण किए बिना ही सभी राष्ट्र के लिए समान हल—अलग हो जाने का हल—पेश कर देना ही राष्ट्रीय प्रश्न के प्रति यांत्रिक समझदारी है। ऐतिहासिक दृष्टि से आदिवासी राष्ट्रीयता संगठित राष्ट्र की अवस्था में अभी तक प्रवेश नहीं कर सकी है यद्यपि उनमें एक राष्ट्र कहलाने की सभी अनिवार्य शर्तें मौजूद हैं। अपने को राष्ट्र के रुप में संगठित नहीं कर सकने का कारण यह है कि अपने अस्तित्व की रक्षा के संघर्ष में कमजोर इन राष्ट्रीयताओं को विकसित राष्ट्रों ने कभी संगठित होने का मौका दिया ही नहीं। आज अलग प्रांत के रुप में स्वायत्तता पाए बिना आदिवासी अपने राष्ट्र को संगठित नहीं कर सकते। प्रांत वह आधार प्रदान करता है जिसपर आदिवासी स्वयं को राष्ट्र के रूप में संगठित कर सकते हैं। जो लोग प्रांत के रूप में आदिवासियों के लिए स्वायत्तता की मांग का इसलिए विरोध करते हैं कि यह मांग संवैधानिक और सुधारवादी है, उन्हें लेनिन के इस कथन को समझने की कोशिश करनी चाहिए :—

"Incidentaly, autonomy, as a reform, differs in principle from freedom to secede, as a revolutionary measure. This is unquestionable. But as everyone knows, in practice a reform is often merely a step towards revolution. It is autonomy that enables a nation forcibly retained within the boundaries of a given state to crystallise into a nation, to gather, assess and organise its forces, and to select the most opportune moment for a declaration……in the 'Norweigian' spirit : we, the autonomous diet of such and such a nation, or of such-and-such a territory declare that the Emperor of

all the Russias has ceased to be king of Poland, etc."

—the same, p. 45

["प्रसंगवश यह भी गिरह में बांध लेना चाहिये कि एक सुधार के रूप में स्वायत्तता अलगाव की स्वतंत्रता से, जो एक क्रांतिकारी कदम है, सिद्धांततः भिन्न है। यह बात स्वतः स्पष्ट है। परन्तु, जैसा कि सभी जानते हैं, सुधार व्यवहार में अक्सर क्रांति की दिशा में एक कदम होता है। यह स्वायत्तता ही है जिसकी बदौलत राज्य-विशेष की सीमाओं के भीतर बलात् रखी गई कोई जाति स्वयं को निश्चित रूप से एक राष्ट्र के रूप में गठित करती है, अपनी शक्तियों का अनुमान लगाती है, उन्हें एकजुट तथा संगठित करती है और सबसे माकूल मौका चुनकर·····"नार्वेइयाई" भावना के अनुरूप घोषणा करती करती है : हम, अमुक या अमुक जाति अथवा अमुक या अमुक प्रदेश की स्वायत्त विधान-सभा के सदस्य घोषणा करते हैं कि समस्त रुस के राजाधिराज पोलैंड के राजा नहीं रह गए हैं।"]

जाहिर है कि लेनिन ने उक्त उद्धरण में किसी संवैधानिक सुधार की वकालत नहीं की है। वे स्वायत्तता की बात कर रहें हैं जो किसी राष्ट्रीयता को राष्ट्र के रूप में संगठित होने, खड़ा होने, अपनी ताकत को बटोरने और अपने भावी विकास के लिए अवरोधों को नष्ट करने का आधार प्रदान करती है। भारत में राष्ट्रों को यह स्वायत्तता राज्यों या प्रांतों के रुप में है।

चूँकि प्रांत भारत में एक संवैधानिक व्यवस्था केरुप में हैं इसलिए अक्सर प्रांत की मांग को एक संवैधानिक मांग भर समझ लिया जाता है। यह रुप और अंतर्वस्तु के फर्क को नहीं समझने के कारण है। रूप की दृष्टि से प्रांत एक संवैधानिक व्यवस्था है, लेकिन उसकी अंतर्वस्तु यह है कि उसके आधार पर एक राष्ट्र प्रतिष्ठित होता है, उसकी राष्ट्रीय भाषा प्रतिष्ठित होती है, यह भाषा उस राष्ट्र के सदस्यों की शिक्षा का और सरकारी काम-काज का माध्यम बनती है और सांस्कृतिक-राजनीतिक कार्यों के माध्यम की भूमिका निभाकर उस राष्ट्र को सैकड़ों सूत्रों से बांध कर एक करती है। आदिवासियों के लिए पृथक प्रांत की मांग करने का अर्थ उन्हें अलग राष्ट्र के रूप में संगठित करने की मांग करना है। इस प्रश्न के महत्त्व और गंभीरता को सिर्फ वे ही लोग समझ नहीं पाते जिनका राष्ट पहले से ही प्रतिष्ठित और जो एक असंगठित, राष्ट्र विहीन राष्ट्रीयता की समस्या को समझने तक में असमर्थ हैं। उनके सोचने

का ढंग इस तरह का है : भला अलग प्रांत मिल जाने से आदिवासियों को क्या मिल जाएगा ! हमलोगों को, तेलुगू, बंगाली, उड़िया, बिहारी, महाराष्ट्री आदि लोगों को तो अलग प्रांत मिला हुआ है तो इससे क्या हुआ ? हमारी समस्याएँ इससे हल हो गई ? अरे, अलग प्रांत हो जाने से कुछ आता जाता नहीं है। असल चीज है क्रांति ! राष्ट्रीय मुक्ति !! आदिवासियों को चाहिये कि वे अलग प्रांत की मांग छोड़कर भारत के मजदूर वर्ग के साथ मिलकर साम्राज्यवाद के खिलाफ हथियार बंद क्रांति करें !

यह भारत के किसी भी विकसित राष्ट्र के एक 'कम्युनिस्ट के' सोचने का ढंग है। सोचने का यह ढंग बतलाता है कि दलित और पिछड़ी राष्ट्रीयताओं की समस्याओं और उनकी वस्तुगत अवस्थाओं को समझने में वह कितना अगंभीर, असमर्थ और यांत्रिक है। चूँकि उसके राष्ट्र को प्रांत पहले से ही मिला हुआ है इसलिए उनके लिए यह कोई समस्या ही नहीं है और वह यह सोच भी नहीं पाता कि किसी राष्ट्र को प्रांत पाने की क्या समस्या हो सकती है? यह वैसी ही बात है जैसे कोई भरपेट आदमी भूखे आदमी की भूख क्या चीज होती है, यह समझ पाने में असमर्थ होता हैं। वे पूछते हैं आदिवासियों को राष्ट्र के रुप में संगठित होना है—इस बात से आपका क्या तात्पर्य है ?

आइए, इसे देखा जाए। स्तालिन के अनुसार ऐतिहासिक रुप से एक स्थान पर रह रहे किसी भी मानव समुदाय को राष्ट्र कहने के लिए चार शर्तों का होना जरुरी है : सामान्य भौगोलिक क्षेत्र, सामान्य भाषा, सामान्य आर्थिक जीवन और सामान्य मनोवैज्ञानिक बनावट जो उनकी सामान्य संस्कृति में प्रतिबिंबित होती है। जिस मानव समुदाय के साथ ये चारों विशेषताएँ जुड़ी हुई हों उसे एक राष्ट्र कहा जा सकता है। इस दृष्टि से भारत के आदिवासी, जो भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ऐतिहासिक रूप से संकेन्द्रित हैं विभिन्न राष्ट्र कहे जा सकते हैं। लेकिन जब हम कहते हैं कि आदिवासी राष्ट्रीयताएँ राष्ट्र के रुप में संगठित नहीं हैं और इस संगठन के लिए इन्हें प्रांत चाहिए, तो इसका क्या अर्थ होता है ?

इसे समझने के लिए किसी भी एक आदिवासी राष्ट्र, उदाहरण के लिए कोल-मुण्डा राष्ट्र (जिसके अंदर मुण्डा, संथाली, हो, कुर्कू, खरिया, कोरवा जुआंग, असुर, भूमिज, शबर या सवारा तथा गदावा आदि आदिवासी आते हैं जो बिहार के छोटानागपुर,संथालपरगना तथा बिहार से सटे बंगाल, उड़ीसा,

मध्यप्रदेश के कुछ अंचलों में, जो सब मिलकर एक पूर्ण भौगोलिक इकाई का निर्माण करते हैं, रहते हैं) तथा एक प्रांत संपन्न राष्ट्र, मिसाल के लिए बंगाली राष्ट्र को तुलना करके देखना चाहिए। हमें तुलना करके देखना चाहिये कि राष्ट्र के रूप में संगठित प्रांतसंपन्न बंगालियों के पास वह क्या-कुछ है जो असंगठित आदिवासी कोल-मुण्डा राष्ट्र के पास नहीं है।

जब हम बंगाली और कोल-मुण्डा राष्ट्र की तुलना करते हैं तो सबसे पहले हम देखते हैं कि बंगाली राष्ट्र की अपनी निश्चित भौगोलिक सीमाएँ हैं जो उसे दूसरे राष्ट्रों से अलग करती हैं। इसके बाद हम देखते हैं कि बंगला भाषा की अपनी लिपि है जिसमें उसका सारा प्राचीन और आधुनिक साहित्य लिपिबद्ध है। लिपिबद्ध होने के कारण यह साहित्य सुरक्षित है। इस साहित्य के अलावा बंगला भाषा की पत्र-पत्रिकाएँ हैं, अखबार और प्रकाशन-गृह हैं, साहित्यिक तथा भाषा-वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं और अपने राष्ट्रीय नाटक-गृह हैं। ये समस्त साधन बंगाली राष्ट्र के बौद्धिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास के माध्यम हैं। बंगाली राष्ट्र के अपने स्कूल-कालेज हैं जहाँ अपनी मातृभाषा के माध्यम से बंगाली बच्चे और विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं, बंगला भाषा विभिन्न स्तरों पर सरकारी काम-काज का माध्यम है। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा की सुविधाएँ एक ऐसे विशाल बंगाली बुद्धिजीवी समुदाय को जन्म देती है जो अपने राष्ट्र के श्रेष्ठतम बौद्धिक गुणों का प्रतिनिधित्व करता है और अपने राष्ट्र के भावी विकास के सपने देखता है। इस तरह बंगला भाषा संपूर्ण बंगाली राष्ट्र के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के एक महान माध्यम का कार्य करती है और बंगाली राष्ट्र को, उसके सैकड़ों पक्षों के साथ, एक सूत्र में बांधती है।

बंगाली राष्ट्र को अपने आर्थिक और सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के लिए प्रांतीय स्वायत्तता के अधिकार मिले हुए हैं। अपनी अलग सीमाओं के कारण एक पृथक राष्ट्र के रूप में संगठित बंगाली राष्ट्र जब अपनी आर्थिक और सामाजिक योजनाएँ बनाता है तो उसका लक्ष्य संपूर्ण बंगाली राष्ट्र होता है। वह अपनी अर्थव्यवस्था के प्रत्येक अंग को संगठित करता है और अपने सभी आर्थिक संगठनों को परस्पर संबंधित कर एक सुगठित अर्थव्यवस्था का रूप देता है जिसे हम सामान्यतः बंगाल की अर्थव्यवस्था कहते हैं। विभिन्न आर्थिक संगठनों को एक सूत्र में बांधने के कार्य में बंगला भाषा एक महत्वपूर्ण

भूमिका निभाती है। इस आर्थिक व्यवस्था के साथ बंगाली राष्ट्र की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक व्यवस्था का संतुलन बैठाया जाता है। इस प्रकार संपूर्ण बंगाल राष्ट्र एक संतुलित और संगठित विकास की प्रक्रिया से गुजरता है।

किसी भी राष्ट्र के सदस्यों का सामान्य व्यक्तित्व उनके राष्ट्र के विकास के सामान्य स्तर को प्रतिबिंबित करता है। बंगाली राष्ट्र का यह संगठित विकास उसके सदस्यों के व्यक्तित्व में प्रतिबिंबित होता है। यह राष्ट्रीय व्यक्तित्व बंगालियों के आत्मविश्वास और राष्ट्रीय चेतना का आधार है। बंगाली अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने राष्ट्र के विकास की जरूरत अनुभव करता है। यह राष्ट्रीय विकास उनके लिए संभव है क्योंकि राष्ट्रीय विकास के लिए जिन वस्तुगत आधारों और माध्यमों की जरूरत है—पृथक सीमाएं, प्रतिष्ठित भाषा, लिपि, मातृभाषा के स्कूल-कालेज, पत्र पत्रिकाएँ, अखबार, प्रेस तथा आर्थिक-राजनीतिक स्वायत्तता के अधिकार आदि—वे उनके पास पहले से ही मौजूद हैं।

बंगालियों की इस स्थिति की तुलना जब हम आदिवासी कोल-मुण्डा राष्ट्र के साथ करते हैं तो हम एक अत्यन्त निराशजनक चित्र देखते हैं। सबसे पहले इन आदिवासी कोल-मुण्डाओं के राष्ट्र की ऐसी निश्चित और मान्य सीमाएँ ही निर्धारित नहीं हैं जो उनके राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से अलग करे। कोल-मुण्डा लोगों को अन्य राष्ट्रों की सीमाओं के अंदर रहना पड़ता है। इसके बाद हम देखते हैं कि मुण्डा भाषा और इसकी विभिन्न बोलियाँ या उप-भाषाओं की अपनी लिपि नहीं है। लिपि के अभाव में इनका साहित्य सुरक्षित नहीं रह सकता और इनका प्राचीन साहित्य बहुत अंशों में इसी कारण मिट भी चुका है और निरंतर मिटता जा रहा है। मुण्डा भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएँ, अखबार प्रेस, साहित्यिक तथा भाषा वैज्ञानिक संस्थाएँ और राष्ट्रीय नाटक-गृह या तो हैं ही नहीं, अथवा इनमें-से कुछ केवल कहने भर के लिए हैं। इन समस्त साधनों के अभाव में कोल-मुण्डा राष्ट्र के बौद्धिक और सांस्कृतिक विरासत न तो किसी भी रूप में सुरक्षित है और न ही उसके भावी विकास के लिए किसी भी प्रकार की गुंजाइश है। कोल-मुण्डा भाषाएँ इनके बच्चों की शिक्षा का माध्यम नहीं है और न ही स्थानीय सरकारी काम-काज का माध्यम हैं। इन सबके अभाव में कोल-मुण्डा राष्ट्र में उस बुद्धिजीवी समुदाय का जन्म ही

नहीं हो सका जो बंगाली राष्ट्र में इतनी बड़ी संख्या में मौजूद है। एक ही मुण्डा राष्ट्र के बच्चों को उड़ीसा में उड़िया, बिहार में हिन्दी और बंगाल में बंगला पढ़नी पड़ती है, उसकी अपनी राष्ट्रीय भाषा उसकी शिक्षा का माध्यम कहीं भी नहीं है। इस तरह कोल-मुण्डा भाषाएँ कोल-मुण्डा राष्ट्र के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के महान माध्यम की भूमिका अदा नहीं करती है और न ही वे कोल-मुण्डा राष्ट्र को एकसूत्र में बांधने का कार्य करती हैं।

कोल-मुण्डा राष्ट्र को अपने आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विकास के लिए स्वायतत्ता के अधिकार नहीं हैं। उनकी अर्थव्यवस्था के विकास का दायित्व उन राष्ट्रों के कंधों पर है जो उनके शोषण में संलग्न हैं। कोल-मुण्डाओं की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंग एक-दूसरें से विच्छिन्न और स्वयं में भी असंगठित हैं। इसलिए कोल-मुण्डा राष्ट्र की अर्थव्यवस्था का कोई संगठित रूप नहीं है और न ही उसके संगठित विकास के लिए कोई गुंजाइश है। इस विच्छिन्न और असंगठित अर्थव्यवस्था का भी उनकी सामाजिक व्यवस्था के अन्य देशों के साथ कोई संतुलन और अन्तर्संबंध नहीं बैठाया जाता। इसलिए ऐसी किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं है जिसे हम कोल-मुण्डा राष्ट्र का संगठित विकास कह सकें।

कोल-मुण्डा राष्ट्र की इस पिछड़ी अवस्था का प्रतिबिंब उसके सदस्यों के व्यक्तित्व में पड़ता है, कोल-मुण्डाओं के व्यक्तित्व में पिछड़ापन और हीनता का भाव मिलता है। हीनता की भावना किसी वस्तु के अभाव से पैदा होती है। अपनी भाषा की प्रतिष्ठा के अभाव से, अपनी भाषा की लिपि के अभाव से, अपने लिखित साहित्य के अभाव से, अपनी मातृभाषा के स्कूल कालेज, पत्र पत्रिकाओं और अखबारों के अभाव से, अपने अधिकारों के अभाव से — ऐसी सब वस्तुओं के अभाव से जो उसके सामने ही अन्य राष्ट्रों के जीवन में में सामान्य और सहज रुप से उपलब्ध है — कोल-मुण्डाओं के व्यक्तित्व में हीनता की भावना आती है। कोल-मुण्डाओं की इस राष्ट्रीय हीनता का वस्तुगत आधार है उसके राष्ट्र का असंगठित और अविकसित होना। स्पष्ट है कि उसके पास वे साधन और आधार ही नहीं है जिनसे कोई राष्ट्र संगठित होता है और उसे अपने विकास के लिए एक आधार मिल जाता है।

ऐसा फर्क है एक प्रांत के रूप में संघठित बंगाली राष्ट्र और प्रांतहीन असंगठित किसी आदिवासी राष्ट्र में। इसलिए विकसित राष्ट्रों के सदस्यों का

यह पूछना कि प्रांत के मिलने से आदिवासी को क्या मिल जाएगा, उनके अंधराष्ट्रवाद और पिछड़ हुए, उत्पीड़ित राष्ट्रों की समस्या को समझाने में उनकी असमर्थता के अलावा और कुछ नहीं है। प्रांतवाले लोग अपने आप को देखें, देखें की उनके राष्ट्र को प्रांत मिलने से क्या-क्या मिला है, और फिर अपने ही प्रांत में रहनेवाले आदिवासियों को देखें कि उनके पास क्या-क्या नहीं है! आज अगर एक तमिल, बिहारी, बंगाली अथवा तेलुगू राष्ट्र से उनका प्रांत वापस छीन लिया जाय और उन्हें उनसे अधिक विकसित राष्ट्रों के प्रांतों के अंदर डाल दिया जाए तो तमिल, बिहारी, बंगाली या तेलुगू राष्ट्र शीघ्र ही प्रचण्ड संघर्ष करके अपना प्रांत वापस कर लेंगे।

हमारे कुछ साथी कहते हैं : क्या साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करने के लिए आदिवासियों का राष्ट्र के रूप में संगठित होना अनिवार्य है ? ** कोई भी राष्ट्र असल में वर्गों में बंटा होता है और वर्ग सगठन हीं उसकी लड़ाई का असली मंच है। आदिवासी भी अपने वर्ग सगठनों के जरिए साम्राज्यवाद और उसके दलालों के खिलाफ़ लड़ेंगे। कम्युनिस्टों के लिए मुख्य चीज है वर्गसंगठन और आदिवासी अपने वर्ग संगठनों के जरिए ही साम्राज्यवाद के खिलाफ़ लड़ेंगे।

ऊपर से देखने पर उपरोक्त वक्तव्य बड़ा हीं निर्दोष-सा प्रतीत होता है, लेकिन असल में इसमें पिछड़ी और दलित राष्ट्रीयताओं के राष्ट्रीय प्रश्न को उनके वर्ग प्रश्न से विस्थापित कर देने की भद्दी राजनीतिक भूल और वर्ग संघर्ष की आड़ लेकर आदिवासियों पर विकसित राष्ट्रों के अंधराष्ट्रवाद का प्रभुत्व कायम रखने की अचेत या सचेत प्रच्छन्न चेष्टा के अलावा और कुछ नहीं है। अपने साथियों की उपरोक्त आपत्ति के जबाव में, आइए, हम इस बुनियाद से शुरू करें कि वर्गों में बंटे हुए समाज में किसी भी जाति को एक राष्ट्र के रूप में संगठित होने की जरूरत क्यों पड़ती है ?

मानव-समुदायों में संगठित होने की प्रवृति आदिम-काल से हीं पायी जाती है। पहले मानव-समुदाय कबीलों के रूप में संगठित हुए, फिर कबीले मिलकर जाति के रूप में संगठित हुए, जाति राष्ट्र के रुप में संगठित हुई और राष्ट्र एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में। यह सब मानव-समाज के विकास की ऐतिहासिक अवस्थाएँ हैं और इनके पीछे मूलतः आर्थिक-शक्तियां काम करती हैं। कम्युनिजम की अवस्था में विभिन्न राष्ट्र, सामाजिक उत्पादन प्रणाली

के अनुरुप, आपस में घुल-मिलकर एक ही मानव-समाज में विलीन होते जाएँगे।

आदिम काल में कबीले कभी-कभी एक-दूसरे पर आक्रमण करके प्रायः एक-दूसरे को लूटने और मिटाने की कोशिश किया करते थे। जब कोई कबीला दूसरे कबीले को लूटने और उसपर आक्रमण करने की तैयारी करता था तो सबसे पहले वह स्वयं को अच्छी तरह संगठित कर लेता था। आक्रांत कबीला भी ऐसे आक्रमणों का सामना करने के लिए स्वयं को और अधिक संगठित और एकताबद्ध करने की जरूरत महसूस करता था। आगे चलकर, जब समाज में वर्ग-विभाजन हो गया तो मानव-समुदायों के संगठित होने की आवश्यकता और भी बढ़ गई क्योंकि वर्ग-विभाजन के फलस्वरूप एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जिसके लिए शोषण और उत्पीड़न करना उसके वर्ग के अस्तित्व के लिए अनिवार्य शर्त्त थी। इस शोषक और उत्पीड़क वर्ग ने पहले तो अपने ही जाति का शोषण और उत्पीड़न करने के लिए सर्वप्रथम अपनी जाति को अनुकूल ढंग से संगठित किया और इस संगठन का नेतृत्व किया। इसके बाद इसने दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने के लिए अपने संगठित राष्ट्र का उपयोग किया। एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण वर्गीय शोषण से भिन्न राष्ट्रीय शोषण कहलाता है जो अपने रूप में राष्ट्रीय होता है लेकिन अंतर्वस्तु में वर्गीय, क्योंकि प्रधानतः यह शोषक वर्ग के द्वारा और सामान्यतः उसके नेतृत्व में होता है। इस राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न का प्रतिरोध करने के लिये उत्पीड़ित राष्ट्र को भी स्वय को और अधिक संगठित तथा एकताबद्ध होने की आवश्यकता पड़ी।

राष्ट्रों को संगठित करने के कार्य को १८ वीं शताब्दी में यूरोप में पूँजीपति वर्ग ने चरम उत्कर्ष तक पहुंचा दिया। पूँजीपति वर्ग ने अपनी उत्पादन प्रणाली के आधार पर बाजारों पर कब्जा करके, बिखरे हुए बाजारों को आपस में संबंधित और संगठित करके, राष्ट्रीय भाषा और साहित्य का विकास करके तथा प्रेस, अखबार एवं अन्य वैज्ञानिक साधनों के जरिए अपने-अपने राष्ट्रों को संगठित किया। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह अभूतपूर्व राष्ट्रीय संगठन पूँजीपतिवर्ग अपने राष्ट्र का सबसे अनुकूल और संगठित ढग से शोषण और उत्पीड़न करने के लिए ही कर रहा था। इसके अलावा, यह अभूतपूर्व राष्ट्रीय संगठन अनजाने में ही आनेवाली भविष्य में

विकसित पूँजीवादी राष्ट्रों द्वारा पिछड़े हुए और असंगठित राष्ट्रों के शोषण और उत्पीड़न की आधार-भूमि तैयार कर रहा था। इसी के बाद आया साम्राज्यवाद का युग, पिछड़े और कमजोर राष्ट्रों के भयंकर शोषण और उत्पीड़न का युग। लेकिन, इसी के साथ पूर्वी यूरोप, एशिया और अफ्रिका में राष्ट्रीय आंदोलनों के युग का भी सुप्रभात हुआ। उत्पीड़ित देशों में राष्ट्रीय चेतना का ज्वार आया। ये राष्ट्रीय आंदोलन विदेशी और औपनिवेशिक प्रभुत्व के विरोध में उठ रहे थे। उत्पीड़ित देशों का राष्ट्रवाद साम्राज्यवादी प्रभुत्व के खिलाफ लड़ने का एक क्रांतिकारी हथियार बन गया।

इस प्रकार जहाँ एक ओर किसी के अपने राष्ट्र का संगठन पराए राष्ट्रों के शोषण और उत्पीड़न का आधार बन गया, वहीं, दूसरी ओर विदेशी प्रभुत्व और राष्ट्रीय शोषण तथा उत्पीड़न का प्रतिरोध करने के लिए अपने राष्ट्र का संगठन अथवा उसकी प्रबल प्रेरणा और कार्यक्रम भी एक अनिवार्य आधार बन गया। आधुनिक युग में अगर कोई जाति एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं है तो वह बाहरी प्रभुत्व और साम्राज्यवाद का सफलता के साथ प्रतिरोध नहीं कर सकती। क्योंकि, जब एक विकसित राष्ट्र का शोषकवर्ग किसी कमजोर राष्ट्र का शोषण और उत्पीड़न करता है तब वह अपने राष्ट्रीय संगठन और अपने राष्ट्रीय विकास को एक आधार की तरह इस्तेमाल करता है। वह अपने विकसित भाषा-साहित्य, प्रेस-अखबार; विकसित आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक संगठनों और विकसित संस्कृति का इस्तेमाल अपने शोषण और उत्पीड़न के पक्ष में करता है और उत्पीड़ित राष्ट्र की भाषा-साहित्य, आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक संगठनों और सस्कृति पर भी प्रहार करता है। इसके प्रतिरोध में उत्पीड़ित राष्ट्र के पास अगर अपनी भाषा-साहित्य, प्रेस-अखबार, आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक सगठन आदि न हों अथवा नगण्य रूप से हों और इन सबको खड़ा करने का उसके सामने कोई स्पष्ट कार्यक्रम और प्रबल संकल्प न हो, तो, उसके प्रतिरोध सग्राम का अंततः असफल होना निश्चित है। साम्राज्यवाद के विरोध में एक राष्ट्र के वर्ग संघर्ष को उसकी राष्ट्रीय स्थिति और राष्ट्रीय भावनाओं से अलग करके देखना सिर्फ मार्क्सवाद और वर्ग संघर्ष की यांत्रिक और जड़ समझदारी है।

हमारे ऐतिहासिक और वर्तमान अनुभव भी इस बात की पुष्टि करते हैं। जब भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की कल्पना भी मौजूद नहीं थी, उस समय आदि-

वासियों ने राष्ट्रीय रूप से संगठित होकर ब्रिटिश-राज और स्थानीय गैर-आदिवासी शोषकों के खिलाफ कईबार संग्राम किया था। पूर्वी भारत में आदिवासियों का सबसे महान सशस्त्र संग्राम जो १९०० ई० में बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में हुआ था, ब्रिटिश साम्राज्य और "दिकु" (बाहरी) लोगों के खिलाफ "अबुआ दिसुम अबुआ राज" (हमारा देश, हमारा राज) के राष्ट्रीय नारे के आधार पर ही हुआ था। इस महान संग्राम के बहुत बाद में चलकर बनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने जिसने आदिवासियों के प्रति एक उपेक्षा भरा दृष्टिकोण अपनाया, आदिवासियों की राष्ट्रीय प्रेरणा के इस महान और क्रांतिकारी स्रोत को भुला दिया और आज भी कम्युनिस्ट पार्टियों के वर्गीय संगठन आदिवासियों के बीच सबसे कमजोर हैं। आंध्रा में कम्युनिस्टों ने अगर गिरिजनों के साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी सशस्त्र संग्राम को उनके राष्ट्रीय प्रश्न, उनके राष्ट्र के संगठन के लिए प्रांत की मांग, के साथ जोड़ा होता तो उनके संग्राम को एक विशाल और शक्तिशाली जनवादी जनाधार मिल गया होता। आज भी झारखंड में जब एक आदिवासी मजदूर को अपनी मजदूरी बढ़ाने की समस्या होती है तो वह लाल झण्डे के पास आता है, लेकिन जब उसे अपने राज करने के लिए अपने प्रतिनधियों को चुनने का अवसर मिलता है तो वह हरे झण्डे के पास जाता है, जो उसका राष्ट्रीय झंडा है, क्योंकि हरा झण्डा उसके राष्ट्र की, प्रांत की मांग करता है।

अपने राष्ट्रीय संगठन के बिना अथवा उसकी प्रबल प्रेरणा और स्पष्ट कार्यक्रम के बिना आदिवासी सिर्फ वर्गीय संगठनों के जरिए साम्राज्यवाद के खिलाफ सफलतापूर्वक नहीं लड़ सकते क्योंकि उनके अंदर लगातार टिकनेवाली एक हीनता की भावना और विकसित राष्ट्रों के साथ अपने अलगाव की भावना है। उसकी हीनता और अलगाव की भावना को उसे राजनीतिक रूप से शिक्षित करके खत्म नहीं किया जा सकता क्योंकि उसकी हीनता और अलगाव की भावना का स्रोत कहीं और है, वह स्रोत है विकसित राष्ट्रों की तुलना में उसके संगठित राष्ट्र का नहीं होना। व्यक्तियों के सामान्य व्यक्तित्व में उनके राष्ट्र का विकास प्रतिबिंबित होता है। आदिवासियों की हीनता और अलगाव की भावना के वस्तुगत आधार को उसकी—राष्ट्रीय हीनता को—खत्म किए बिना हम केवल सैद्धांतिक रूप से उसकी हीनता को दूर नहीं कर सकते। कम्युनिस्ट पार्टी, जो कि मजदूर वर्ग का सर्वोच्च वर्गीय राजनीतिक संगठन है -

अपने अंदर आए आदिवासी सदस्यों की हीनता और अलगाव की भावना को मार्क्सवादी दृष्टिकोण और जनवादी आचरण के अभ्यास के जरिए दूर कर सकता है। लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल होने वाले आदिवासी सदस्य अपने-अपने राष्ट्र के बहुत छोटे अंश होंगे। अधिकांश आदिवासी जनता कम्युनिस्ट पार्टी के बाहर ही रहेगी। जो आदिवासी व्यक्ति कम्युनिस्ट बनता है वह व्यक्तिगत रूप से भले ही इस हीनता और अलगाव का बोध नहीं करे, लेकिन उसका राष्ट्र इन भावनाओं से पीड़ित है—इस बात का अनुभव उसे और भी स्पष्ट तथा तीव्र रूप से होगा और वह पार्टी में अपने राष्ट्र की समस्या को उठाए बिना नहीं रह सकता।

ट्रेड यूनियनों, किसान-सभाओं और छात्र-संघों में भाग लेने वाले आदिवासी सामान्यतः इन जन-संगठनों में पिछड़े और दबे हुए रहते हैं और इनके नेतृत्वकारी अंश नहीं बन पाते क्योंकि इन संगठनों में गैर-आदिवासी विकसित राष्ट्रों के सदस्यों की योग्यता, दक्षता और श्रेष्ठता तथा व्यक्तित्व के दबाव को वे निरंतर अनुभव करते हैं और उनकी तुलना में स्वयं को हमेशा एक हीन-स्थिति में पाते हैं। चाहे भाषण देने का सवाल हो, चाहे पोस्टर चिपकाने का सवाल हो, चाहे हैंडबिल और किसी प्रस्ताव का मसौदा बनाने का सवाल हो, चाहे संगठन बनाने का सवाल हो और चाहे गूढ़ राजनीतिक-आर्थिक सिद्धांतों को समझने और समझाने का सवाल हो—एक बंगाली, बिहारी, महाराष्ट्री या तेलुगू मजदूर सामान्यतः हमेशा एक आदिवासी मजदूर से अधिक योग्य, अधिक निपुण और अधिक आत्मविश्वासपूर्ण सिद्ध होता है। इसलिए वर्ग संगठनों और जन-संगठनों में आदिवासी कभी भी एक अगुआ अंश या हिरावल दस्ता और नेतृत्वकारी अंश के रूप में सामने नहीं आ पाते। संगठन को विकसित राष्ट्रों के सदस्य चलाते हैं, आदिवासी उनके अनुयायी बनकर पीछे-पीछे चलते हैं।

लेकिन गौर करने लायक बात यह है कि उपरोक्त सारी सच्चाइयों के बावजूद आदिवासियों के राष्ट्र के प्रश्न को नहीं उठाना, उसका विरोध करना अथवा उसके महत्त्व को कम करके आंकना और एक कम्युनिस्ट के बहाने सिर्फ वर्गीय संगठनों के रूप में आदिवासियों के वर्ग-संघर्ष की क्रांतिकारी लफ्फाजी बघारना वास्तव में विकसित राष्ट्रों द्वारा आदिवासी राष्ट्रों पर अपनी श्रेष्ठता और प्रभुत्व को कायम रखने और उन्हें आत्मसात करते जाने

के सिद्धांत का ही प्रच्छन्न रूप है और यह गैर-आदिवासी विकसित राष्ट्रों की अंधराष्ट्रवादी मनोवृत्ति को प्रतिध्वनित करना है। "आदिवासियों के राष्ट्रवाद को उभाड़ना हमारा काम नहीं है"—यह एक कपटपूर्ण और आधारहीन उद्घोषणा है क्योंकि आज 'उभड़ा हुआ' राष्ट्रवाद आदिवासियों का नहीं बल्कि विकसित राष्ट्रों का है जिन्होंने आदिवासी राष्ट्रवाद को कुचल रखा है। अगर आदिवासियों का राष्ट्रवाद उभड़ता है, अगर आदिवासियों में विकसित राष्ट्रों के विरूद्ध राष्ट्रीय घृणा की भावना आती है तो यह बिलकुल जायज भावना है, क्योंकि वे उत्पीड़ित राष्ट्र है। "हम उन्हें वर्गचेतना से लैस करेंगे और एक कम्युनिस्ट की हैसियत से उन्हें सिर्फ वर्ग-संघर्ष के लिए प्रेरित और संगठित करेंगे"—ऊपर से यह निर्दोष-सी दिखनेवाली उद्घोषणा वास्तव में आदिवासियों के राष्ट्रीय प्रश्न को, जो उनका वास्तविक और गंभीर प्रश्न है, नकारने और झुठलाने की कोशिश करती है और विकसित राष्ट्रों द्वारा उन्हें आत्मसात करते जाने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देती है। "हम आदिवासियों के सिर्फ वर्गप्रश्न को उठाएंगे"—इस बात का मतलब क्या है? इस बात का मतलब यह है कि हम उनके राष्ट्र के प्रश्न को नहीं उठाएंगे; तो इसका मतलब यही हुआ कि वे हमारी ही भाषा बोलेंगे, हमारी ही लिपि अपनाएंगे, हमारी ही भाषा के माध्यम से शिक्षा पाएंगे और हमारे ही राष्ट्र की सीमाओं के अन्दर रहेंगे—कम से कम तब तक, जब तक क्रांति नहीं हो जाती, जबतक समाजवाद नहीं आ जाता। समाजवाद आने पर ही उनकी वास्तविक मुक्ति होगी और समाजवाद के आने तक हमें, विकसित राष्ट्रों को, तो अधिकार यह है कि हम अपने राष्ट्रों को स्वायत्तता प्राप्त प्रांतों के रूप में संगठित और विकसित करें, लेकिन आदिवासियों को यह अधिकार नहीं है। बंगाल के हमारे साथी हमें यह सूचना देते हैं कि बंगाल में संथाली तथा अन्य आदिवासी राष्ट्रीयताओं के बीच कम्युनिस्ट पार्टियों ने काम किया है और वहाँ के आदिवासी झारखंड प्रांत की मांग नहीं करते, वे कम्युनिस्ट पार्टी के वर्ग संगठनों के जरिए वर्ग संघर्ष करना चाहते हैं। हमारे साथियों को अपनी इस राजनीतिक विरासत पर गर्व है, वे इससे संतुष्ट प्रतीत होते हैं। लेकिन इस बात का क्या अर्थ हुआ? इस बात का एक अर्थ तो यह हुआ कि बंगाल के आदिवासी बंगाली राष्ट्र के ही अन्दर रहना चाहते हैं। दूसरा अर्थ यह हुआ कि वे बंगला भाषा और बंगला लिपि अपनाना चाहते हैं। तीसरा अर्थ यह हुआ कि वे

बंगला भाषा के माध्यम से ही शिक्षा पाना चाहते हैं और चौथा अर्थ यह कि वे नौकरियों में बंगालियों से स्वतंत्र रूप से प्रतियोगिता करना चाहते हैं, आदि-आदि।

और इस "वर्ग संघर्ष" का नतीजा आजतक क्या निकला है, इसे देखने के लिए सैकड़ों-हजारों उदाहरणों में से सिर्फ दो उदाहरण, नौकरी और शिक्षा के सिर्फ दो उदाहरण हम आपके सामने और बंगाल के उन साथियों के सामने पेश करते हैं।

कलकत्ते से प्रकाशित दैनिक बंगला अखबार "आनंद बाजार पत्रिका" के १८ सितम्बर, १९७४ के अंक में निरंजन हालदार का एक लेख छपा : "राज्य के आदिवासियों की शिक्षा समस्या।" उस लेख के कुछ उद्धरण हम नीचे पेश करते हैं।

" सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार प० बंगाल के आदिवासियों की कुल जन संख्या २५ लाख ३२ हजार ६६९ है, जो कि राज्य की कुल जन संख्या का ६.६४ प्रतिशत है। पिछले २७ वर्षों में संरक्षण व्यवस्था के लिए सरकार द्वारा यथेष्ट मात्रा में अर्थव्यय किए जाने पर भी आदिवासियों की अवस्था में विशेष उन्नति नहीं हुई। प० बंगाल की आदिवासी जनता में केवल मात्र दो व्यक्ति इंजीनियर, १७ या १८ व्यक्ति दूसरी श्रेणी के सरकारी कर्मचारी हैं। आदिवासियों में १०% भी साक्षर नहीं हैं।

" आदिवासी विद्यार्थी सर्वप्रथम प्राइमरी विद्यालय में प्रवेश कर पाठ्य-पुस्तकों की समस्या का सामना करते हैं। बंगाली शिक्षक-हिन्दु या मुसलमान संथाली या अन्य आदिवासी भाषा नहीं जानते हैं। अतः जहाँ बंगाली विद्यार्थी वर्ण परिचय, सहज पाठ अथवा किसलय पढ़कर आसानी से अर्थ समझ जाते हैं यहाँ आदिवासी विद्यार्थियों को अर्थ बिना समझे ही रटना पड़ता है और इस प्रकार उनकी विचारधारा विकसित होने के बदले भटक जाती है; क्योंकि, "उई अजगर आसछे तेड़े आमटी आमी खाब पेड़े" आदि पंक्तियों का वे अर्थ ही समझ नहीं पाते। संथाली भाषा में आम को दार: कहते है और आम शब्द का अर्थ उनकी भाषा में है आष। स्कूल के शिक्षक ऐसा नहीं पढ़ाते और आदिवासी विद्यार्थी सोच लेते हैं कि उनकी अवहेलना हो रही है।..... आदिवासी विद्यार्थियों की संख्या को देखते हुए विद्यालय आदिवासी शिक्षक नियुक्त नहीं करता। ..... पुस्तकों में व्यवहृत भाषा और प्रच्छदपट से वे

परिचित नहीं, उनके चरित्रों एवं घटनाओं को निजि नहीं समझ पाते। इसलिए उनकी समझशक्ति का ह्रास होता है।"

यह है आदिवासियों के सिर्फ वर्ग-संघर्ष का नतीजा। जिन संशोधनवादी पार्टियों ने ऐसा वर्ग संघर्ष चलाया, उन्होंने बंगाल के लिए केंद्र से और अधिक स्वायत्तता की मांग की है, लेकिन बंगाल के आदिवासियों के लिए अलग प्रांत की मांग को आजतक कभी नहीं उठाया, इसके विपरीत, वे इस मांग का विरोध करती हैं। "आदिवासी राष्ट्रवाद" को नहीं उभाड़ने के प्रयोजन से "वर्ग संघर्ष" और "अंतर्राष्ट्रीयतावाद" के लबादे के नीचे आदिवासियों के विरूद्ध बंगाली अंधराष्ट्रवाद को पाला-पोसा और उभाड़ा गया।

आदिवासियों के राष्ट्रीय प्रश्न को नकारने के उद्देश्य से वर्ग संघर्ष की लफ्फाजी करने के विपरीत सच्चाई यह हैं कि आदिवासियों के वर्गप्रश्न और राष्ट्रीय प्रश्न, दोनों के बीच घनिष्ठ और अटूट संबंध है और दोनो का लक्ष्य-बिन्दु एक ही है। भारत मेंवर्गप्रश्न का अर्थ है भारत के सर्वहारा, गरीबकिसान, मध्यवर्ग तथा राष्ट्रीय पुंजीपति वर्ग, इन चार वर्गो के साम्राज्यवाद और उसके दलाल भारतीय नौकरशाह, पूंजीपति और सामंतीवर्ग के साथ अंतर्विरोध। दूसरे शब्दों में भारतीय जनता और साम्राज्यवाद तथा उसके दलालों के बीच अंतर्विरोध का प्रश्न ही भारत में वर्गप्रश्न है। इस जनता में, जाहिर है, आदिवासी जनता शामिल है। आदिवासियों के राष्ट्र को कौन वर्ग देना नहीं चाहता है? निस्संदेह, यह साम्राज्यवाद और उसके दलाल भारतीय शासक वर्ग है। आदिवासी प्रदेशों के बहुमूल्य खनिज-सम्पदा; धातुओं तथा जंगल की बेशकीमती लकड़ियों की लूट तथा आदिवासियों की श्रमशक्ति का सस्ते दरों पर भयंकर शोषण साम्राज्यवाद और उसके दलाल भारतीय शासक वर्ग के मुनाफों का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है और अपने इन्हीं वर्ग स्वार्थों के हित में वे आदिवासियों को पिछड़ा बनाए रखने के उद्देश्य से, उन्हें अस्तित्वहीन, असंगठित और राजनीतिक रूप से पंगु बनाए रखने के लिए तथा भारत के अन्य राष्ट्रों के साथ उनके अंतर्विरोधों की ऐतिहासिक स्थिति को बनाए रखने के उद्देश्य से ही वे आदिवासियों को प्रांत के माध्यम से राष्ट्र के रूप में संगठित होने देना नहीं चाहते हैं। उन्हें अपने आत्मनिर्णय का अधिकार देना नहीं चाहते हैं। यह साम्राज्यवाद का दलाल भारतीय शासक वर्ग—जो भारत के अपेक्षाकृत विकसित राष्ट्रों के उच्चवर्गों से बना

है—ही है जिसने साम्राज्यवाद की सेवा में तथा अपने-अपने राष्ट्रों की जनता और आदिवासी राष्ट्रों की जनता के बीच अंतर्विरोध और असमानता तथा विशेषाधिकारों की ऐतिहासिक विरासत को कायम और जारी रखने की घृणित जन-विरोधी नीति के अनुसार ही आदिवासियों को उनके प्रांतों के अधिकार से वंचित कर रखा है। इसलिए आदिवासियों के राष्ट्र का प्रश्न साम्राज्यवाद और उसके दलाल भारतीय शासकवर्ग के विरूद्ध संघर्ष का ही एक प्रश्न है। इस आधार पर हम आदिवासियों की राष्ट्रीय चेतना को उनके वर्गशत्रुओं की ओर मोड़ देते हैं क्योंकि आदिवासियों का राष्ट्रीय प्रश्न और वर्गप्रश्न, दोनों आपस में संयुक्त हैं और दोनों का लक्ष्य एक ही है—साम्राज्यवाद और उसका दलाल भारतीय शासक वर्ग।

राष्ट्रीय शोषण का रूप राष्ट्रीय है और उसकी अंतर्वस्तु वर्गीय है। विकसित राष्ट्रों का शासक वर्ग—जो साम्राज्यवाद का दलाल है—ही आदिवासियों का प्रधानतः शोषण करता है और सामान्यतः अपने राष्ट्र द्वारा आदिवासी राष्ट्रों के शोषण और उत्पीड़न का नेतृत्त्व करता है। इसलिए विकसित राष्ट्रों के शोषक और शासक वर्ग के साथ आदिवासियों के जो अंतर्विरोध हैं, और विकसित राष्ट्रों की जनता के साथ आदिवासियों के जो अंतर्विरोध हैं—इन दोनों प्रकार के अंतर्विरोधों को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। आदिवासियों के राष्ट्रीय संघर्ष और वर्ग संघर्ष दोनों का लक्ष्य एक है उत्पीड़क राष्ट्र का शासक वर्ग जो साम्राज्यवाद का दलाल है। आदिवासी राष्ट्र और विकसित राष्ट्र, दोनों की जनताओं का वर्गीय आधार एक ही होने के कारण इनके बीच के अंतर्विरोधों का हल मित्रतापूर्ण ढंग से किया जायगा। इन दोनों राष्ट्रों की जनता अपनी आपसी वर्गमैत्री के आधार पर अपने शोषक और शासकवर्ग के साथ अपने अंतर्विरोधों का हल बलपूर्वक, क्रांति के जरिए करेगी। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि उत्पीड़क राष्ट्र का शासकवर्ग अन्य राष्ट्रों के शोषण से होनेवाली लूट का एक तुच्छ हिस्सा अपने राष्ट्र की जनता को भी देता है और उसके राष्ट्र की जनता शासक वर्ग का राष्ट्र होने के नाते उत्पीड़ित राष्ट्र की जनता की तुलना मे कई प्रकार की सुविधाओं और विशेषाधिकारों का उपभोग करती है, इसलिए तथा अपने शासकवर्ग की अंधराष्ट्रवादी विचारधारा के प्रभाव में होने के कारण भी, उत्पीड़क राष्ट्र की जनता और उत्पीड़ित राष्ट्र की जनता के बीच राष्ट्रीय उत्पीड़न के अंतर्विरोध पैदा हो जाते हैं। (जो अवश्य ही मित्रतामूलक हैं!)

दोनों प्रकार के राष्ट्रों की जनता के सामान्य शत्रु के विरूद्ध सफल संग्राम चलाने के लिए ही इन दोनों राष्ट्रों के बीच उत्पन्न हुए इन अंतर्विरोधों को, अर्थात् राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न के अंतर्विरोधों को, हल करने के लिए, इनकी जनताओं की आपसी मैत्री, समानता और एकता को और सुदृढ़ करने के लिए ही आदिवासी राष्ट्रों की समस्या को हल करने का प्रस्ताव रखा गया है। पुराने सामंतवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत के विकसित राष्ट्रों की जनता पर आदिवासी राष्ट्रों के शोषण और उत्पीड़न के जिन ऐतिहासिक संबंधों को लादा था– जिन्हें नवउपनिवेशवाद और उसके दलाल भारतीय शासक वर्ग आज भी जारी रखे हुए हैं—विकसित राष्ट्रों के सर्वहारावर्ग का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने ऊपर लादे गए इन शोषणपूर्ण संबंधों को उतार फेंके और आदिवासी राष्ट्रों की जनता और सर्वहारावर्ग के साथ मैत्री और समानता का संबंध कायम करे। आदिवासियों के लिए प्रांत और आत्म-निर्णय के अधिकार के प्रश्न को ठीक इसीलिए उठाया गया है कि शासकवर्ग, जो देश के अंदर विकसित राष्ट्रों और आदिवासी राष्ट्रों के बीच असमानता तथा शोषणपूर्ण संबंधों और अंतर्विरोधों के राष्ट्रीय रूप को कायम और जारी रखना चाहता है, के इस षड्यंत्र के आधार को मिटाकर हम इन राष्ट्रों की जनता के बीच मैत्री, समानता और एकता का आधार कायम करें ताकि इन राष्ट्रों की मेहनतकश जनता एक होकर अपने सामान्य शोषकों के खिलाफ दृढ़तापूर्वक संग्राम चला सके। अगर हम विकसित राष्ट्रों के शासक वर्गों द्वारा आदिवासियों की राष्ट्रीय 'आइडेंटिटी' को अस्वीकार करने, उनके पृथक व्यक्तित्व को नकारने और उनको राष्ट्रीय संगठन की सुविधा और अवसर देने की मांग को अस्वीकार करने की नीति के खिलाफ नहीं लड़ेंगे तो हम राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न के प्रत्येक रूप को खत्म करने की चाहे कितनी कसमें खाएं, लेकिन व्यवहार में हम इस दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाएंगे; आदिवासियों को हम विभिन्न राष्ट्रों के सर्वहारावर्गों की एकता, जनवाद और अंतर्राष्ट्रीयतावाद की चाहे जितनी शिक्षा दें, व्यवहार में हम उनके ऊपर अपने-अपने राष्ट्रों के शासकवर्ग द्वारा लादे गए राष्ट्रीय प्रभुत्व और राष्ट्रीय असमानता को कायम रखेंगे। कुछ साथी, जिनका दृष्टिकोण कुछ ऐसा है कि जबतक क्रांति सपन्न नहीं हो जाती तबतक कुछ भी करना संभव नहीं है, कहते हैं कि राष्ट्रों के सवाल को क्रांति संपन्न होने से पहले ही उठाना निरर्थक है,

क्रांति के बाद ही हम इस दिशा में कुछ कर सकेंगे, और ऐसा कहने के साथ-साथ वे यह आशंका भी जोड़ देते हैं कि आदिवासियों के लिए पृथक प्रांत की मांग द्वारा उनके अलगाव के अधिकार की मांग से भटकने (मिसलीड) की संभावना पैदा हो सकती है।

क्रांति को अलादीन का एक ऐसा चिराग समझना जिसके प्राप्त हो जाने के बाद हर प्रश्न के समाधान का रास्ता खुद-ब-खुद निकल आएगा और क्रांति संपन्न होने से पहले राष्ट्रों के प्रश्न को उठाने को निरर्थक बतलाना मार्क्सवाद के विचारधारात्मक संघर्ष की एक बहुत पुरानी कहानी है। मार्क्स जब इंटरनेशनल में राष्ट्रों का सवाल उठाया करते थे तब प्रूदोगुट और मार्क्स के दो भले मित्र लफार्ग और लाफ्गे भी मार्क्स के विरोध में इसी दृष्टिकोण को पेश करते थे। मार्क्स ने एंगेल्स के नाम लिखे अपने पत्रों में राष्ट्रों के सवाल के बारे में ऐसे दृष्टिकोण को बहुत ही "हास्यास्पद" बतलाया है।

यह सच है कि क्रांतिकारी राजनीतिक सत्ता की स्थापना के बिना समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन संभव नहीं है। क्रांतिकारी सत्ता की स्थापना भले एक या कुछ विशेष निर्णायक युद्धों के आधार पर हो, लेकिन समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन एक लंबी प्रक्रिया है जो क्रांति के पहले ही शुरू हो जाता है और क्रांति के बाद अपनी पूरी शक्ति के साथ जारी रहती है। समाज के विभिन्न उत्पीड़ित वर्गों की हर तरह की समस्याओं, हर तरह के अभावों और उनके विकास की हर तरह की मांगों को एक क्रांतिकारी प्रक्रिया के अभिन्न अंग में बदले बिना क्रांति की ताकत को और उसके प्रभावकारी विस्तार को बढ़ाया नहीं जा सकता। समाज की क्रांतिकारी शक्तियों को बढ़ाने के लिए और क्रांति के हित में जनता के व्यापक हिस्सों का अधिक-से अधिक और दृढ़ विश्वास अर्जित करने के लिए हमें जनता के विभिन्न अंशों के बीच बहुत-से सुधारात्मक कार्य भी करने होंगे। कम्युनिस्टों को न सिर्फ आदिवासियों के राष्ट्र के संगठन के सवाल को, जो कि आदिवासियों का एक जीवंत प्रश्न है, भारत की जनवादी क्रांति की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग बना देना चाहिए, बल्कि इन पिछड़े हुए राष्ट्रों की सामाजिक चेतना के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए तथा उनके राजनीतिक विकास के मार्ग में आनेवाली बहुत सी व्यवहारिक कठिनाइयों को दूर करने और अभावों को पूरा करने के लिए इन पिछड़े राष्ट्रों के बीच बहुत-से सुधारात्मक कार्यक्रम भी चलाने

चाहिये। मसलन, बहुत-से आदिवासियों की लिपि और वर्णमालाएँ नहीं हैं। हमें इस कार्य को "समाजवादी क्रांति के संपन्न होने तक" टाल रखने का दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिये, इसके विपरीत हमें आगे बढ़कर उनकी लिपि और वर्णमालाएँ तैयार करने के कार्यों को अपने हाथों में लेना चाहिये और इन अभावों को भी उनके क्रांतिकारी राष्ट्रीय संघर्ष की प्रक्रिया का एक अंग बना देना चाहिये। जनता के अंदर बहुत तरह के जनतांत्रिक और सुधारात्मक कार्यों को करने की जरूरतों के प्रसंग में लेनिन ने लिखा है :

"some of these (democratic) reforms will be started before the overthrow of the bourgeoisie, others in the course of the overthrow, and still others after it. The social revolution is not a single battle but a period covering a series of battles over all sorts of problems of economic and democratic reforms, which are consummated only by the expropriation of the bourgeoisie. It is for the sake of this final aim that we must formulate every one of our democratic demands in a consistently revolutionary way."

—Collected works, Vol 21, p. 408

[इन (जनवादी) सुधारों में कुछ पूँजीपतियों के उच्छेद के पहले आरंभ हो जायेंगे, कुछ उच्छेद के दरमयान और कुछ उसके बाद। सामाजिक क्रांति अकेला एक मुठभेड नहीं है, बल्कि हर प्रकार की आर्थिक और जनवादी सुधारों के समस्याओं पर किये जाने वाले सिलसिलेवार कई मुठभेड़ों का एक अरसा है। ये बेसमस्यायें और सुधार हैं, जिनकी पूर्ण प्राप्ति पूँजीपतियों के उच्छेद द्वारा ही होती है। यह वह अंतिम लक्ष्य है, जिसकी खातिर हमें अपने सभी जनवादी मांगों को, अवश्य ही एक लगातार क्रांतिकारी पद्धति में, रूपायन करना चाहिये।]

अलग प्रांत की मांग द्वारा अलग होने के अधिकार से भटक जाने (मिसलीड) की संभावना अथवा भय भी एक कल्पित धारणा ही है क्योंकि हम कम्युनिस्टों ने राष्ट्रों के राजनीतिक अलगाव के अधिकार के सिद्धांत को तिलांजलि नहीं दी है, इसके विपरीत, हम भारत के सभी राष्ट्रों के लिए, जिनके प्रांत हैं उनके लिए भी, अलग होने के अधिकार की समान रूप से मांग

करते हैं। प्रांतविहीन राष्ट्रों के लिए प्रांतों के माध्यम से उनके राष्ट्रों को संगठित करने की मांग हमारे जनवादी मांगों के कार्यक्रम का सिर्फ एक अंग है। हम प्रांतहीन राष्ट्रों के लिए प्रांतों की मांग करते हैं, प्रांतसंपन्न राष्ट्रों के लिए विस्तृत तथा वास्तविक प्रादेशिक स्वायत्तता तथा जनवादी शासन-स्वरूप की मांग करते हैं और सभी राष्ट्रों के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग करते हैं। ये मांगें एक-दूसरे की स्थानापन्न नहीं हैं, अलग प्रांत की माँग द्वारा प्रांतों को और अधिक तथा सच्ची स्वायत्तता की मांग को विस्थापित नहीं किया जा सकता और न ही इन दोनों मांगों के द्वारा राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की मांग को विस्थापित किया जा सकता है। इसलिए आदिवासी राष्ट्रों को संगठित करने के लिए उनके लिए अलग प्रांतों की मांग द्वारा आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग से भटक जाने की आशंका या संभावना गलत और बेबुनियाद है।

कुछ साथी कभी-कभी यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या किसी आदिवासी राष्ट्र को प्रांत मिल जाने के बाद हम उस प्रांत की सरकार और विधान सभा में भाग लेंगे ?

प्रांत की मांग का उद्देश्य विधान सभा और सरकार में भाग लेना नहीं है, उसका उद्देश्य इस दस्तावेज में अबतक किए गए विवेचन में पूरी तरह स्पष्ट कर दिया गया है। प्रांत विधान सभा नहीं है, वह एक राष्ट्र के संगठन का आधार है। विधान सभा में भाग लेने के प्रति हमारा वही दृष्टिकोण है जो एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी का होना चाहिए।

कभी-कभी यह आशंका उठाई जाती है, उदाहरण के लिए झारखंड आंदोलन के संदर्भ में उठाई गई है, कि क्या आदिवासियों द्वारा पृथक प्रांत की मांग के लिए आंदोलन होने से आदिवासी जनता तथा विकसित राष्ट्रों की जनता के बीच दंगे नहीं होंगे ?

हमारा कहना है कि ऐसी आशंका का आधार विकसित राष्ट्र के शोषक वर्ग का दृष्टिकोण है। स्पष्ट रूप से यह आशंका उन्हीं राष्ट्रों की ओर से उठाई जाती है जिन्होंने आदिवासियों पर अपना प्रभुत्व जमा रखा है और यह आशंका और कुछ नहीं, उनके अपने निहित स्वार्थों को बनाए रखने की, अचेत या सचेत, अनुचित इच्छा का ही प्रच्छन्न रूप है। दरअसल यह विकसित राष्ट्रों द्वारा आदिवासी राष्ट्रों को दी गई एक धमकी है कि अगर तुम अपना

प्रांत मांगोगे तो हम दंगे करेंगे। लेनिन ने कहा था कि शोषक राष्ट्र द्वारा विरोध नाजायज है। लेकिन शोषित राष्ट्र द्वारा विरोध एक जायज चीज है। शोषित राष्ट्र द्वारा शोषक राष्ट्र का प्रतिरोध प्रगतिशील है लेकिन शोषक राष्ट्र द्वारा शोषित राष्ट्र का प्रतिरोध प्रतिक्रियावादी है।

उपसंहार

लेनिन ने लिखा है कि मार्क्स अपने जान-पहचान के समाजवादियों की समझदारी और उनके विश्वासों की दृढ़ता को परखने के लिए उनके "दांतों को" गौर से देखते थे अर्थात दलित राष्ट्र के प्रति उसके विचारों को गौर से जानने की कोशिश करते थे। लोपातिन नामक एक रूसी समाजवादी से परिचित होने के बाद, मार्क्स ने एंगेल्स को अपने एक पत्र में इस रूसी समाजवादी की प्रशसा करते हुए अपनी राय लिखी और साथ ही यह भी जोड़ दिया : "पोलैंड का प्रश्न उसकी कमजोरी है। इस सवाल पर वह बिलकुल वैसे ही बात करता है जैसे कोई अंग्रेज.....आयर्लैंड के बारे में करता है।"

लेनिन ने आगे लिखा कि उत्पीड़क राष्ट्र के समाजवादी से मार्क्स उत्पीड़ित राष्ट्र के प्रति उसके रवैये के बारे में सवाल करके फौरन उस दोष को प्रगट कर देते थे जो सभी प्रभुताशाली राष्ट्रों के समाजवादियों में समान रूप से पाया जाता है : दलित राष्ट्रों के प्रति अपने समाजवादी कर्त्तव्यों को न समझना और प्रभुताशाली राष्ट्रों के पूँजीपतिवर्ग से प्राप्त पूर्वाग्रहों को प्रतिध्वनित करना।

मार्क्स और लेनिन की इस कसौटी पर भारत के ५० वर्षों के कम्युनिस्ट आंदोलन के नेतागणों के "दाँत" न सिर्फ कच्चे हैं, बल्कि वे सड़े हुए भी हैं। भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों, सी० पी० आई० और सी० पी० आई० (एम०) के नेतृत्वकारी अश, जिनका चरित्र हमेशा निम्नपूँजीवादी रहा है, न सिर्फ भारत के विकसित राष्ट्रों से आए हैं, बल्कि वे अपने-अपने राष्ट्रों की ऊँची जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय—से भी आए हैं। दलित और कमजोर आदिवासी राष्ट्रों के प्रति उनका उपेक्षा भरा रवैया, उनके राष्ट्र के प्रश्न को नहीं उठाना, उनके प्रांत की मांग का व्यवहार में विरोध करना, यह सब तथ्य बतलाते हैं कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों के नेताओं में दलित और कमजोर राष्ट्रों के

प्रति अपने समाजवादी कर्त्तव्यों का बोध लेशमात्र भी नहीं रहा है। वास्तव में इन्होंने विकसित राष्ट्रों द्वारा आदिवासी राष्ट्रों को आत्मसात करते जाने की प्रक्रिया को ही बढ़ाया है। दूसरी तरफ, अधिकांश कम्युनिस्टों ने भी आदिवासियों के राष्ट्र की समस्या को नहीं उठाया और आत्म निर्णय के अधिकार को यांत्रिक ढंग से समझा और आदिवासी राष्ट्रों की ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण किए बिना ही, उनकी राष्ट्रीय समस्या को समझे बिना ही, उनपर राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को यांत्रिक ढग से लागू किया। व्यवहार में इसका सारतत्त्व सिर्फ इतना ही है कि आदिवासी बिना एक राष्ट्र के रूप में संगठित हुए ही, विकसित और संगठित राष्ट्रों के समान (यद्यपि उनमें वास्तविक समानता नहीं है) साम्राज्यवाद के खिलाफ वैसा ही गुरिल्ला सग्राम चलाएं। इस तरह व्यवहार में अधिकांश कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने भी आदिवासियों के राष्ट्रीय प्रश्न को छुआ तक नहीं।

इस तरह हम देखते हैं कि भारत में राष्ट्रीय प्रश्न, विशेषकर आदिवासियों का राष्ट्रीय प्रश्न, जो मार्क्सवादी—लेनिनवादी विचारधारा का एक महत्वपूर्ण अंग है। ५० वर्षों के भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में सुसगत ढंग से कभी उठाया ही नहीं गया। आदिवासियों के राष्ट्र के प्रश्न को सैद्धांतिक रूप से उठाना और हल करना भारत में कम्युनिस्ट विचारधारात्मक सघर्ष का एक अनिवार्य कार्य है और व्यवहारिक क्रांतिकारी सघर्ष में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

ये कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आदिवासियों के वर्ग प्रश्न को उठाते हैं लेकिन उन्होंने आदिवासियों के राष्ट्रीय प्रश्न को नहीं उठाया है। यद्यपि राष्ट्रीय प्रश्न वर्गप्रश्न का ही अंग है लेकिन इन दोनों का परस्पर सबंध सरल नहीं, बल्कि द्वंद्वात्मक है। इसलिए हम कह सकते हैं कि वर्गप्रश्न और राष्ट्रीय प्रश्न एक भी हैं और अलग-अलग भी हैं। हम पहले ही यह दिखला आए हैं कि किस प्रकार राष्ट्रीय शोषण वर्गीय शोषण से भिन्न रूप में होता है और शोषक वर्ग राष्ट्रीय शोषण के लिए अपने पूरे राष्ट्र के सगठन का इस्तेमाल करता है, अपनी लूट में अपने पूरे राष्ट्र को भी एकहद तक शामिल करता है और अपनी राष्ट्रीय जनता को उत्पीड़ित राष्ट्र की जनता की तुलना में कई विशेषाधिकार देता है और इस प्रकार उत्पीड़क तथा उत्पीड़ित राष्ट्रों की जनता के बीच अंतर्विरोधों की सृष्टि करता है। इसलिए वर्गप्रश्न से राष्ट्रीय प्रश्न की भिन्नता

को नहीं देखना, वर्गप्रश्न को यांत्रिक रुप से राष्ट्रीय प्रश्न की जगह विस्थापित कर देना और उत्पीड़ित तथा उत्पीड़क राष्ट्रों की जनता के बीच के अंतर्विरोधों को नजरअंदाज कर देना तथा उत्पीड़ित राष्ट्र की राष्ट्रीय समस्या को भुठलाने का प्रयत्न करना होगा। यह एक भटकाव है। ठीक इसके विपरीत, राष्ट्रीय प्रश्न को वर्गप्रश्न से बिलकुल स्वतंत्र कर देने का मतलब उत्पीड़क और उत्पीड़ित राष्ट्रों की जनताओं के बीच के मित्रतामूलक अंतर्विरोधों को शत्रुतामूलक अंतर्विरोधों में बदल देना और निम्नपूंजीवादी राष्ट्रवाद के दल-दल में जा फंसना होगा। यह दुसरा भटकाव है।

इसलिए, रुप और पद्धति की भिन्नता के कारण हम राष्ट्रीय प्रश्न का अलग से अध्ययन करते हैं और अंतर्वस्तु की एकता के कारण हम उसे वर्ग-प्रश्न से जोड़कर देखते हैं।

आदिवासियों के राष्ट्र के संगठन के लिए होनेवाला संघर्ष वर्गप्रश्न की दृष्टि से साम्राज्यवाद, उसके दलाल भारतीय शासकवर्ग तथा इनके स्थानीय एजेंटों, गुंडों, सूदखोरों, ठेकेदारों, जमींदारों तथा दलालों के खिलाफ होगा तथा राष्ट्रीय प्रश्न की दृष्टि से यह विकसित राष्ट्रों और आदिवासी राष्ट्रों की जनताओं के बीच के अंतर्विरोधों को हल करेगा और विशेषाधिकारों का अंत करेगा, आदिवासी राष्ट्र की समस्या को हल करेगा, और आदिवासी सर्वहारा की मित्रता को विकसित राष्ट्रों के सर्वहारा के साथ समानता तथा वर्गमैत्री के आधार पर और सुदृढ़ करेगा।

आदिवासियों का राष्ट्रीय प्रश्न हमारे राजनीतिक कार्य-कलापों के लिए भी तात्कालिक और व्यवहारिक महत्त्व रखता है। आदिवासी इलाकों में संघर्ष को संगठित करने के संदर्भ में आदिवासियों के राष्ट्र के प्रश्न की सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। आदिवासी इलाकों में राजनीतिक कार्य को उनके राष्ट्र के प्रश्न से अलग नहीं रखा जा सकता।

आदिवासियों के राष्ट्रीय उत्पीड़न के प्रश्न को आदिवासियों द्वारा उठाये जाने के लिए छोड़ा नहीं जा सकता। यह आदिवासियों का नहीं, विकसित राष्ट्रों के सर्वहारा का कर्त्तव्य है कि वे आदिवासियों के राष्ट्र के प्रश्न को उठाएं। मार्क्स, लेनिन और स्तालिन ने हमेशा ही इस बात पर जोर दिया था कि यह उत्पीड़क राष्ट्रों के समाजवादियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने राष्ट्र के अंधराष्ट्रवाद के खिलाफ लड़ें। भारतीय कम्युनिष्टों ने अपने इस समाजवादी

कर्त्तव्य को कभी नहीं किया। अब इस काम में जरा भी विलंब नहीं होना चाहिए।

विशेष —परिशिष्ट में हमने भारत के १३ आदिवासी राष्ट्रीयताओं का परिचय दिया है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हूबहू इन्हीं के आधार पर १३ प्रांतों का निर्माण किया जायगा। इन राष्ट्रीयताओं के आधार पर प्रांत बनाने के लिये कुछ अन्य तत्वों पर भी विचार करना अनिवार्य होगा। कहीं-कहीं दो या दो से अधिक आदिवासी राष्ट्रीयता एक ही साथ रहते हैं। वहाँ क्या इनके प्रांत अलग-अलग बनेंगे अथवा उनके प्रांतों का एक संघ या गणतंत्र होगा? आदिवासी राष्ट्रीयता के साथ ऐतिहासिक रूप से रह रहे गैर-आदिवासी राष्ट्रीयता के ऐसे समुदाय, जो एक तरफ तो आदिवासियों के साथ काफी घुला-मिला है लेकिन फिर भी वह आदिवासी राष्ट्रीयता का अंग नहीं बन गया है, दूसरी ओर, वह अपने मूल राष्ट्रीयता से भी पृथक हो गया है, का प्रश्न भी प्रांतों के निर्माण के प्रसंग में विचारणीय है। इसके अलावा, स्वयं आदिवासी राष्ट्रीयता के अंदर भी भिन्न-भिन्न कबीलों की भिन्न-भिन्न बोलियाँ हैं। इनका क्या किया जायगा? आदिवासी राष्ट्रीयता के आधार पर प्रांत बनाने के प्रसंग में उपरोक्त सभी प्रश्न विचारणीय होंगे। ये सब व्यावहारिक प्रश्न हैं। उदाहरण के लिये झारखंड में मुण्डा और ओरांव – दो भिन्न आदिवासी राष्ट्रीयतायें एक साथ रहती हैं। इनके साथ झारखंड में सदानी या खोट्टा भाषी लोग भी रहते हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अब झारखंडी ही कहलायेंगे। ये गैर-आदिवासी, अपने मूलराष्ट्रीयताओं के अंग अब नहीं रहे और इस प्रकार वे अब झारखंड के एक अर्ध-विकसित गैर-आदिवासी राष्ट्रीयता का रूप बनाते हैं। इसके अलावा हो, मुंडा, ओरांव, संथाली इत्यादि भाषाओं का क्या स्थान होगा और महत्व होगा यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। आदिवासी राष्ट्रीयता के आधार पर प्रांत बनाते समय इन सब व्यावहारिक प्रश्नों का सही ढ़ग से हल करते हुये ही प्रांत का निर्माण किया जायगा।

प्रस्तुत लेख में राष्ट्रीयता की समस्या के मौलिक सिद्धांतों की ही चर्चा की गई है। व्यावहारिक हल खास राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक परिस्थितियों और राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुसार होगी।

परिशिष्ट

१९७१ ई० की जनगणना के अनुसार राज्यों की कुल जनसंख्या में आदिवासी जनसंख्या (लाख में)

राज्य/केंद्र शासित क्षेत्र	कुल जनसंख्या	आदिवासी जनसंख्या	कुल जनसंख्या में आदिवासी जनसंख्या, प्रतिशत में
आंध्र प्रदेश	४३५·०३	१६·५०	३·८१
आसाम	१४९·५९	१९·२०	१२·८४
बिहार	५६३·५३	४९·३३	८·७६
गुजरात	२६६·९७	३७·३४	१६·९९
हरयाणा	१००·३७	—	—
हिमाचल प्रदेश	३४·६४	१·४२	४·८९
जम्मू-काश्मीर	४६·१७	—	—
केरल	२१३·४७	२·६९	१·२९
मध्य प्रदेश	४१६·५४	८३·८७	२०·१४
महाराष्ट्र	५०४·१२	२९·५४	५·८६
मणिपुर	१०·७३	३·३४	३१·१७
मेघालय	१०·१२	८·१४	८४·४३
कर्नाटक	२९२·९९	२·३१	०·७९
नागालैण्ड	५·१६	४·५८	८८·६१
उड़ीसा	२१९·४५	५३·७२	२३·११
पंजाब	१३५·५१	—	—
राजस्थान	२५७·६६	३१·२९	१२·१३
तमिलनाडु	४११·९९	३·१२	०·७६
त्रिपुरा	१५·६६	४·५१	२८·९५
उत्तर प्रदेश	८८३·४२	२·९९	०·२५
प० बंगाल	४४३·१२	२५·३३	५·७२
अंडमान, निकोबार	१·१५	०·१८	१५·५२

राज्य/केन्द्र शासित क्षेत्र	कुल जन संख्या	आदिवासी जनसंख्या	कुल जनसंख्या में आदिवासी जनसंख्या, प्रतिशत में
अरुणांचल प्रदेश	४·६८	३·६९	७९·०२
चंडीगढ़	२·५७	—	—
दादरा, नगर हवेली	०·७४	०·६४	६६·८९
दिल्ली	४०·६६	—	—
गोआ-दमन-दीव	८·५८	०·७८	०·९३
लक्षद्वीप	०·३२	०·३०	९३·७५
पांडिचेरी	४·७२	—	—
कुल	५४,७९,४९,८०९	३,८०,१५,१६२	६·९४

भारत की आदिवासी राष्ट्रीयतायें और उनकी भाषाएँ

भारत की आदिवासी जातियाँ तीन भाषा—परिवार की भाषाएँ बोलती हैं—(i) आष्ट्रिक भाषा परिवार (ii) द्रविड़ भाषा परिवार और (iii) तिब्बती -चीनी भाषा परिवार। आदिवासियों में भील आदिवासी अपवाद हैं जिन्होंने अपनी भाषा को पता नहीं कब से त्यागकर पूरी तरह आर्यभाषा को अपना लिया है। लेकिन भीलों को छोड़कर भारत के शेष समस्त आदिवासी उपरोक्त तीन भाषा परिवारों के अंतर्गत ही आते हैं। भाषा वैज्ञानिकों ने इन भाषा परिवारों की भाषाओं और बोलियों का अध्ययन और विश्लेषण करके इन भाषा-परिवारों को उप-परिवार, शाखा तथा ग्रुप में बाँटा है। ग्रुप उसे कहते हैं जिसके अंतर्गत आनेवाली भाषाएँ वस्तुतः एक ही भाषा के विभिन्न रूप होते हैं, जो यद्यपि एक-दूसरे से थोड़ा-बहुत फर्क रखती हैं, लेकिन यह फर्क गौण होता है और वे हर दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत अधिक समानता रखती हैं। इनको बोलनेवाली जातियाँ या लोग ऐतिहासिक तौर से एक ही साथ रहते आए हैं। आदिवासियों में जनजाति और उसकी भाषा या बोली, दोनों का नाम प्रायः एक ही रहता है (जैसे हो जनजाति की भाषा का नाम भी हो है, कुड़ुख या खड़िया जनजाति की भाषा का नाम भी कुड़ुख और खड़िया है) अथवा उनकी भाषा का नाम उनकी जनजाति से

काफी मिलता-जुलता होता है जैसे संथालों की भाषा का नाम संथाली, गोंडों की भाषा का नाम गोंडी तथा पनिया लोगों की भाषा का नाम पनियान है! भाषा-ग्रुप के आधार पर हम भारत के आदिवासी राष्ट्रीयताओं का निर्धारण कर सकते हैं। ऐसी आदिवासी जातियाँ जो एक ही ग्रुप की भाषाएँ बोलती हैं, वस्तुतः वे सब मिलकर एक राष्ट्रीयता हैं। इस तथ्य को आदिवासियों के बीच हुए हमारे अनुभव भी पुष्ट करते हैं। इस दृष्टि से भारत में कुल १२ आदिवासी राष्ट्रीयता हैं और भील आदिवासियों को लेकर, जो आर्यभाषा बोलते हैं, १३ राष्ट्रीयतायें हैं। ये १३ आदिवासी राष्ट्रीयतायें निम्नलिखित हैं :-

(i) खासी राष्ट्रीयता (ii) मुण्डा राष्ट्रीयता (iii) दाक्षणी द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता (iv) आंध्र आदिवासी राष्ट्रीयता (v) गोंड राष्ट्रीयता या मध्य द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता (vi) कुड़ख/ओरांव राष्ट्रीयता अथवा उत्तरी द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता (vii) भोट राष्ट्रीयता (viii) हिमालय राष्ट्रीयता (ix) नेफा राष्ट्रीयता (x) बोरो/बोडो राष्ट्रीयता (xi) नागा राष्ट्रीयता (xii) कुकी-चिन राष्ट्रीयता तथा (xiii) भील राष्ट्रीयता।

इन आदिवासी राष्ट्रीयताओं में, जन संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा राष्ट्रीयता मुण्डा राष्ट्रीयता है और उसके बाद गोंड राष्ट्रीयता या मध्य द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता एवं भील राष्ट्रीयता और कुड़ख/ओरांव राष्ट्रीयता है। भोट राष्ट्रीयता, हिमालय राष्ट्रीयता, कुकी-चिन राष्ट्रीयता इत्यादि जनसंख्या की दृष्टि से छोटे राष्ट्रीयता हैं।

इन राष्ट्रीयताओं का विवरण इस प्रकार है।

(i) खासी राष्ट्रीयता : खासी राष्ट्रीयता खासी भाषा-ग्रुप की भाषा और बोलियाँ बोलनेवालों की राष्ट्रीयता है। आष्ट्रिक भाषा परिवार में आष्ट्रो-एशियाटिक उप-परिवार का मॉन-ख्मेर शाखा का भारत में एकमात्र ग्रुप खासी भाषा-ग्रुप है। इसके अंतर्गत खासी भाषा आती हैं और मॉई-खासी, जयन्तिया, नांगतुंग, पनार या सिन्तेंग तथा वार बोलिया हैं। इनके बोलने वालों की कुल जनसंख्या १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार ३६४,०६३ है। इसका निवास स्थान आसाम राज्य का युनाइटेड खासी एण्ड जयन्तिया हिल्स जिला है।

(ii) मुण्डा राष्ट्रीयता : आष्ट्रो-एशियाटिक उप-परिवार की मौन-ख्मेर शाखा के अलावा भारत में इसकी दूसरी शाखा मुण्डा शाखा है। मुण्डा

शाखा के अंतर्गत सिर्फ मुण्डा भाषा-ग्रुप ही आता है। यह भारत में आज भी जीवित सबसे प्राचीन और सबसे बड़ी आदिवासी राष्ट्रियता है। प्राचीन काल में आर्यलोग इन्हें कोल तथा असुर, शबर, निषाद आदि नामों से भी पुकारते थे। मुण्डा-भाषा-ग्रुप की भाषाएँ और बोलियाँ बोलनेवाले लोगों की कुल संख्या, १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार, ५,८१४,४९६ है। इसके अतर्गत खेरवारी, संथाली, मुण्डारी, भूमिज, बिरहोर, कोडा/कोरा, हो, तुरी, असुरी, अगारिया, ब्रिजिया/बिन्झिया, कोरवा, कोकूं, खड़िया, जुआंग, सवारा, गदाबा आदि भाषाएँ आती हैं। संथाली भाषा के अंतर्गत गायरी; गोरा, हार, कमारी-संथाली, करमाली, किसान-संथाली, लोहारी-संथाली, माहली, मांझी तथा पहाड़िया बोलियाँ आती हैं। मुरा मुण्डारी की एक बोली का नाम है। भूंइया/भूयां, किसान-भूमिज, कुर्मी, लरका, पारसी-भूमिज तथा राहिया आदि भूमिज की बोलियाँ हैं। खैरा, मिर्धा-कोडा/कोरा, तथा उदान्गमुद्रिया आदि कोडा/कोरा की बोलियां हैं। हो भाषा के अंतर्गत लोहारा बोली आती है। ब्रिजिया की एक बोली है पहाड़ी ब्रिजिया। कोरवा भाषा के अंतर्गत जंगली कोरवा, कोड़ाकू, माझी-कोरवा तथा सिंगली बोलियाँ आती हैं। कोकूं के अंतर्गत मन्कारी, मुवासी तथा निहाली बोलियां आती हैं। बइती, ढेलकी, लोफा तथा मिर्धा-खड़िया बोलियां खड़िया भाषा के अंतर्गत आती है। इन सबके अलावा कोल, महतो, पारेन्गा तथा थार इत्यादि बोलियाँ भी मुण्डा भाषा के ही अंतर्गत आती हैं।

ओरांव कुड़ख राष्ट्र जो कि एक उत्तरी द्रविड़ आदिवासी राष्ट्र है, ऐतिहासिक रूप से मुण्डा राष्ट्र के साथ ही रहता आया है। इन दोनों राष्ट्रों में घनिष्ठ मित्रता है। झारखंड प्रांत मुण्डा राष्ट्रियता के साथ-साथ ओरांव/कुड़ख राष्ट्रियता भी मांगता है। ओरांव/कुड़ख राष्ट्रियता का एक अंश बिहार-बंगाल में मुण्डा राष्ट्रियता के साथ रहता है और दूसरा अंश मध्य प्रदेश में मुण्डा राष्ट्रियता तथा गोंड राष्ट्रियता के साथ रहता है। जो राष्ट्रियता एक दूसरे के बिलकुल साथ-साथ रहते हैं, वैसे राष्ट्रीयताओं को एक ही प्रांत के अंदर उनके अलग-अलग गणतंत्रों के रूप में संगठित किया जा सकता है, जैसा कि सोवियत संघ में किया गया था।

मुण्डा राष्ट्रीयता बिहार, बंगाल, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश में एक दूसरे से सटे-सटे इलाकों में फैला हुआ है। बिहार में यह राँची, सिंहभूम, संथालपरगना,

पलामू, हजारीबाग, धनबाद आदि जिलों तथा भागलपुर, मुंगेर और पूर्णिया के कुछ हिस्सों में है। बिहार के इन जिलों से सटे हुए बंगाल, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश के भी कुछ जिले मुण्डा राष्ट्र के अंतर्गत आते हैं। प० बंगाल के बीरभूम, बर्दवान, पुरूलिया. बांकुरा तथा मिदनापुर आदि जिलों के कुछ अंश (दार्जिलिंग, जलपाईगुड़ी तथा चौबीस परगना में भी बहुत से ओरांव रहते हैं) भी मुण्डा राष्ट्र के अंतर्गत आते हैं। उड़ीसा के किओनझर, मयूरभंज सुन्दरगढ़ आदि जिलों के अलावा सम्बलपुर जिले के भी कुछ अंश इसमें आएगे मध्य प्रदेश में बिहार की सीमा से सटा पूरा सरगूजा जिला तथा इसके अलावे बिलासपुर, रायगढ़ और रायपुर जिले के भी कुछ अंश मुण्डा राष्ट्र के अंतर्गत आते हैं।

उपरोक्त सभी इलाके मिलकर एक संपूर्ण पृथक भौगोलिक इकाई का निर्माण करते हैं जिसे झारखंड प्रदेश कहते हैं। यह झारखंड प्रदेश ही महान मुण्डा राष्ट्र है। लेकिन मुण्डा राष्ट्र की जन संख्या का एक अंश उपरोक्त इलाकों के अलावा बंगाल के मालदा जिले में उड़ीसा के बालासोर, धेनकनाल, कालाहाण्डी तथा कोरापुट जिले में और मध्यप्रदेश के ईस्ट निमाड़, जबलपुर, रेवा, शाहदूल तथा सतना जिले में भी रहता है। इनके अलावा मुण्डा राष्ट्रीयता की गदाबा और शबर या सावरा जनजाति आंध्रप्रदेश में भी रहता है।

मुण्डा राष्ट्र की मुण्डारी, संथाली तथा हो, इन तीन मुख्य भाषाओं को छोड़कर बाकी सभी भाषाओं और उनकी बोलियों पर आर्य भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। ये उड़ीसा में उड़िया, बंगाल में बंगला तथा बिहार और मध्यप्रदेश में हिन्दी से प्रभावित हैं। आंध्रप्रदेश में गदाबा और सावरा भाषा पर तेलुगू का प्रभाव पड़ा है।

iii) दक्षिणी द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता : भाषा के आधार पर द्रविड़ भाषा-परिवार के चार ग्रुप हैं। इनमें से पहला ग्रुप दक्षिणी द्रविड़ भाषा का है। इस ग्रुप के अंतर्गत तमिल, मलयालम. कन्नड़ और इनकी बहुत-सी बोलियां, कूर्जी अथवा कोडाग, तुलू, टोडा तथा कोटा भाषाएँ आती हैं। दक्षिणी द्रविड़ ग्रुप में तमिल, कन्नड़ और मलयालम भाषा-भाषियों के राष्ट्र बने और विकसित हुए हैं। बाकी भाषाएँ तथा बहुत-सी बोलियां,

जिनका संबंध इन प्रमुख भाषाओं से है, द्रविड़ आदिवासी जातियाँ बोलती हैं जो अपने राष्ट्र से वंचित हैं।

दक्षिणी द्रविड़ आदिवासी जातियों के बारे में हमारी जानकारी बहुत सीमित है क्योंकि हमारे पास इनसे संबंधित तथ्यों और आंकड़ों का अभाव है।

दक्षिणी द्रविड़ भाषा ग्रुप के अंतर्गत आदि द्रविड़. इरूल/इरूलिया, कार्की आदी, कोरची, मदारी कुरूबा, सोलागा. येरूकला/येरूकुला, कुम्बर यलायक्का, पनिया, येरावा, कछूभाषा, कहुचिक्कन. कुरूम्बा, नाइकी-कुरूम्बा, उराली, कुर्जी/कोडाग, कोरागा, परावा, टोडा तथा कोट आदि बोलियां और भाषाएँ आदिवासी जातियाँ बोलती हैं। इन्हें बोलनेवाली दक्षिणी द्रविड़ आदिवासी जातियाँ कट्टुनायकन, टोडा, इरूलर, कोराग, कादार, शोलागा, पल्लियान, पन्नियान, मलयाली, नइकदा, येरावा, सोलिगारू, मालएकान्डी, जेनू करूबा, अदियान, कुरियान, पुलयान, कुरूयान तथा कोटा आदि हैं। ये दक्षिणी द्रविड़ आदिवासी जातियाँ तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल तथा आंध्रप्रदेश के कुछ हिस्सों में रहती हैं। तमिलनाडु राज्य में ये प्रधानतः नॉर्थ एरकाट तथा सालेम में और इन दो जिलों के अलावा चिंगलपुट, कोयम्बटूर, नीलगिरि तथा साउथ एरकाट में भी रहती हैं। १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार, नॉर्थ एरकाट में २२ हजार इरूलर तथा ३० हजार मलयाली आदिवासी हैं। सालेम में ९२ हजार मलयाली तथा चिंगलपुट में २४ हजार इरूलर हैं। केरला राज्य में दक्षिणी द्रविड़ आदिवासी मुख्यतः कन्नानोर/कन्नूर और कोझीकोंड जिले में तथा इनके अलावा कोट्टायम और पालघाट जिले में भी रहते हैं। कन्नानोर में १४ हजार पनियान, २४ हजार पुलयान और १४ हजार मराठी आदिवासी रहते हैं। कोझीकांड में ११ हजार कुरूमान, २२ हजार पनियान तथा २८ हजार पुलयान हैं। कर्नाटक राज्य में ये आदिवासी मुख्यतः बेलगाँव, कूर्ज तथा साउथ कनारा जिलों में तथा इनके अलावा मैसूर, धारवाड़ और बिजापुर जिलों में भी रहते हैं। बेलगाँव में ५० हजार नइकदा तथा साउथ कनारा में ३८ हजार मराठी आदिवासी हैं। बीजापुर में ६ हजार नइकदा, कूर्ज में १५ हजार येरावा, मैसूर में ९ हजार सोलिगारू तथा साउथ कनारा में ७ हजार कोरगा रहते हैं।

ऊपर जिन जिलों का और जिन आदिवासी जातियों का नाम लिया गया है, इनके अलावा इन राज्यों के अन्य जिलों में भी इन जातियों के साथ-साथ

अन्य भी बहुत-सी दक्षिणी द्रविड़ आदिवासी जातियाँ रहती हैं। भाषा-ग्रुप के आधार पर ये सब जातियाँ मिलकर एक दक्षिणी द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता के अंतर्गत आती हैं।

१९६१ ई० की जनगणना के आधार पर दक्षिणी द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता की कुल जनसंख्या साढ़े छः लाख से भी अधिक है।

(iv) आंध्र आदिवासी राष्ट्रीयता : द्रविड़ भाषा परिवार का दूसरा भाषा ग्रुप आंध्र ग्रुप है। आंध्र ग्रुप की प्रमुख भाषा तेलुगू है जिसके बोलने वाले राष्ट्र के रूप में संगठित हैं। तेलुगू भाषा के अलावा, इस ग्रुप के अंतर्गत आंध्रा, चेंचू, गोदारी, कमारा, मालाभाषा, वाल्मीकी तथा येनादी आदि बोलियां हैं जिन्हें आदिवासी जातियां बोलती हैं। इन्हें बोलने वाली आंध्रा आदिवासी जातियां हैं, सुगाली (लाम्बाड़ी) चेंचू, वाल्मीकी, येनादी, इत्यादि। ये आंध्रा आदिवासी जातियां मुख्यतः आंध्रप्रदेश के अनंतपुर, चित्तूर, गुन्टूर, करनूल, नेलोर तथा विशाखापत्तनम जिलों में और इनके अलावा वेस्ट-गोदावरी श्रीकाकुलम, कृष्णा और कडपा जिलों में रहती हैं। अनंतपुर में ३४ हजार सुगाली (लाम्बाडी), चित्तूर में ३२ हजार येनादी, ८ हजार सुगाली, गुन्टूर में ३५ हजार येनादी और १७ हजार सुगाली, करनूल में ११ हजार सुगाली, नेल्लोर में १ लाख १७ हजार येनादी तथा विशाखापत्तनम में १९ हजार वाल्मीकी आदिवासी रहते हैं। इनके अलावा दक्षिणी द्रविड़ ग्रुप की आदिवासी जाति येरुकुला, टोडा और येनादी, मध्य द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता की कोया, तथा पोरजा, गोंड और खोंड तथा मुरुडा राष्ट्रीयता की सोरा या सवारा और गदाबा जातियां भी बड़ी मात्रा में आंध्रप्रदेश में रहती हैं। आंध्र प्रदेश में रहनेवाली कोरुडा, कोरुडा कापु, कोरुडा रेड्डी तथा रेड्डीदोरा आदिवासी जातियां, जिनकी संख्या काफी बड़ी है, किस आदिवासी राष्ट्रीयता के अंतर्गत आती हैं, यह हमें ठीक-ठीक पता नहीं है।

(v) मध्य द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता या गोंड राष्ट्रीयता : मुरुडाओं के बाद भारत के आदिवासी राष्ट्रीयताओं में सबसे बड़ी गोंड राष्ट्रीयता है जो द्रविड़ आदिवासियों में भी सबसे प्रमुख राष्ट्रीयता है। भाषा के आधार पर द्रविड़ भाषा परिवार का तीसरा भाषा ग्रुप मध्य द्रविड़ ग्रुप है। इस ग्रुप के अंतर्गत कुई, कालामी, गोंडी, पार्जी, कोया, खोंड अथवा कौंध तथा कोरुडा भाषाएँ और इनकी बोलियां आती हैं। कुई भाषा की एक बोली है पेन्गा।

कालामी की दो बोलियां हैं – माने तथा नाइकी-कालामी। गोंडी के अंतर्गत डोर्ली, गाइकी, कालारी, कान्द्रा, कोकादी, मारिया, नागार्ची, पांखेली, प्रधान, पारसी गोन्डी, राज गोंडी तथा थोटी बोलियां आती हैं। पार्जी के अंतर्गत धुर्वा और कोरापुटी तथा कोया के अंतर्गत डोराचहम बोली आती है। १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार मध्य द्रविड़ भाषा-ग्रुप की भाषाओं और बोलियों को बोलनेवालों की कुल जनसंख्या २,४९५,१५० थी। लेकिन यह जनसंख्या सही प्रतीत नहीं होती है क्योंकि स्वयं गोंड लोगों की जनसंख्या ही उस समय ३९·९१ लाख थी।

गोंड जनजाति भारत की सबसे बड़ी जनजाति है और मध्य द्रविड़ राष्ट्रीयता की भी यह सबसे बड़ी जाति है। इसलिए हम मध्य द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता को गोंड राष्ट्रीयता भी कह सकते हैं। गोंड राष्ट्र की सीमाएं मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश तथा उड़ीसा के विभिन्न जिलों में, जो सब मिलकर एक राष्ट्रीय भौगोलिक इकाई का निर्माण करते हैं, फैली हुई हैं। मध्यप्रदेश के बस्तर, छिंदवाड़ा, मांडला, शाहडूल, सिओनी तथा दुर्ग के पूरे के पूरे जिले और रायपुर; रायगढ़ और बिलासपुर के मुरुडा राष्ट्र के हिस्सों को छोड़कर बाकी सभी हिस्से तथा इनके अलावा सीफी, जबलपुर तथा बालाघाट जिलों के कुछ अंश आते हैं। इनसे सटे हुए महाराष्ट्र के चन्द तथा पेटोमाला जिले के कुछ अंश, आंध्र प्रदेश के अदिलाबाद, खम्मम, करीमनगर, वरंगल, ईस्ट-गोदावरी तथा विशाखापत्तनम के कुछ अंश और उड़ीसा के बउध-खोंडमहल तथा कोरापुट जिले पूरी तरह से और बोलान्गीर, कालाहाण्डी तथा सम्बलपुर के कुछ अंश आते हैं।

(vi) उत्तरी द्रविड़ आदिवासी राष्ट्रीयता अथवा ओरांव/कुड़ख राष्ट्रीयता : उत्तरी द्रविड़ भाषा-ग्रुप द्रविड़ भाषा परिवार का चौथा और अंतिम ग्रुप है। इसके अंतर्गत दो मुख्यः भाषाएँ हैं—ओरांव अथवा कुड़ख एवं माहतो। ओरांव के अंतर्गत आदि भाषा कुड़ख, धांगरी, किसान-कुड़ख, लोहारी कुड़ख, मलहार तथा नागेसिया आदि बोलियां आती हैं। माहतो भाषा के अंतर्गत सौरिया बोली आती है। १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार इसके बोलनेवालों की कुल जनसंख्या १,१४१,८०४ थी। इसमें मुख्य जाति ओरांव है जिनकी कुल जनसंख्या १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार

१४·१७ लाख थी। ओरांव राष्ट्रीयता मुण्डा राष्ट्रीयता के साथ ही बिहार-बंगाल उड़ीसा और मध्यप्रदेश में है। इसलिए मुण्डा राष्ट्र के साथ ही इनके गणतंत्र की स्थापना हो सकती है। बिहार में ये मुख्यतः राँची जिले में रहते हैं। बंगाल में ये मुण्डा राष्ट्र के अंतर्गत पड़नेवाले जिलों के अलावा दार्जिलिंग, जलपाईगुड़ी, २४ परगना तथा वेस्ट-दिनाजपुर में भी रहते हैं। उड़ीसा में मुख्यतः मुण्डा राष्ट्रीयता के अंतर्गत पड़ने वाले जिले सुंदरगढ़ में रहते हैं, बाकी जिलों में इनकी संख्या नाम मात्र की है। मध्यप्रदेश में मुख्यतः रायगढ़ और सरगूजा में रहते हैं और ये दोनों ही जिले मुण्डा राष्ट्र के अंतर्गत पड़ते हैं।

मुण्डा राष्ट्रीयता के साथ ओरांवों की मित्रता बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही है। झारखंड प्रांत की मांग में ओरांव राष्ट्रीयता मुण्डा राष्ट्रीयता के बिलकुल साथ है।

(vii) भील राष्ट्रीयता : मध्य प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी इलाकों में अगर गोंड राष्ट्र पड़ता है तो मध्यप्रदेश की पश्चिमी सीमा पर, उसकी दक्षिणी और उत्तरी छोरों पर महाराष्ट्र और राजस्थान के कुछ सीमावर्ती जिलों को समेटते हुए और सीधे पश्चिम में गुजरात के कुछ जिलों और दादर और नगरहवेली को समेटते हुए भील राष्ट्र बसा हुआ है। भारत के आदिवासी राष्ट्रों में मुण्डा और गोण्ड राष्ट्र के बाद भील राष्ट्र ही सबसे बड़ा आदिवासी राष्ट्र है। मुण्डा राष्ट्र के इतिहासकारों और मानव वैज्ञानिकों के अनुसार भील किसी समय मुण्डा राष्ट्र के ही सदस्य थे लेकिन ऐतिहासिक रूप से वे उपरोक्त इलाकों में बस गए और आज हर तरह से वे एक पृथक राष्ट्र का निर्माण करते हैं। भील भाषा भी आज पूरी तरह से आर्य भाषा परिवार का एक अंग बन चुकी है।

भील भाषा के अंतर्गत कई बोलियां आती हैं जिन्हें भील राष्ट्रीयता की विभिन्न जन-जातियां बोलती हैं। ये बोलियां हैं, बगलानी, बरोरी बरेल, बबची, भिलाली, भिलोरी या भिलोडी, भीमचौरा, व्याधा, चरनी, गोधारी, धानकी, धोडिया, दुबली डुंगारी, गामती या गावितो, कोकना/कोकनी/कुकना, कोताली, कोतवाली, मगारी, मवाची, नइकादी, नीलशिकारी, पदवी, पचाली, पराधी, पावरी, पित्तल भाषाओं, रनती, तदवी, टंकनकारी, टकारी, बसावा, वागदी तथा वाल्वी। इन भाषा और इसकी बोलियों को बोलनेवाली जन-

संख्या, १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार, गुजरात में २७६,२१४, महाराष्ट्र में ४४१,३६४, मध्यप्रदेश में ८७५,९१६, राजस्थान में ८३१,८६९ तथा दादरा-नगरहवेली में ११,५३४ थी। अकेले भील जाति की कुल जनसंख्या, १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार, ३८,०३८ लाख है। मीणा जनजाति का नाम अक्सर भील जनजाति के साथ जोड़ा जाता है. बहुत-सी जगहों पर भील-मीणा लिखा पाया जाता है, इससे लगता है कि मीणा भी भील राष्ट्रीयता का ही एक अंग है। मीणा जनजाति की कुल जनसंख्या ११·५५ लाख बतलाई गई है।

भील राष्ट्र के अंतर्गत मध्यप्रदेश के धार, झबुआ और पश्चिमी निमाड़, ये तीन जिले, जो संपूर्ण रूप से एक ही भौगोलिक इकाई हैं, आते हैं। रतलाम जिले का कुछ अंश भी भील राष्ट्र के ही अंतर्गत आता है। इनसे सटे हुए गुजरात के पंचमहल और सूरत जिले पूरी तरह से भील राष्ट्र के अंतर्गत आते हैं। गुजरात के बंसकंथा, बड़ौदा, बरौच तथा साबरकथा और दंग जिले के कुछ अंश भी भील राष्ट्र में आते हैं। गुजरात तथा मध्यप्रदेश में भील राष्ट्र के अंतर्गत आनेवाले जिलों की सीमा को छूनेवाला महाराष्ट्र का धुलिया जिला पूरी तरह से भील राष्ट्र के अंतर्गत आता है। इसके अलावा, महाराष्ट्र के नासिक, जलगाँव, पूना तथा अहमदनगर और कोलाबा के कुछ अंश और थाना जिला पूरी तरह से भील राष्ट्र के अंदर आता है। दादर और नगरहवेली जो एक तरफ सूरत जिले को और दूसरी तरफ थाना जिले को छूता है, पूरी तरह से भील राष्ट्र के अंदर आता है। गुजरात के पंचमहल और साबरकेथा को तथा मध्यप्रदेश के रतलाम और झबुआ को छनेवाली राजस्थान की सीमा के अंदर बंसवाड़ा का पूरा जिला, बसवाड़ा को छूते हुए दुरगपुर और चित्तौड़गढ़ के कुछ अंश और इन दोनों जिलों को छूता हुआ पूरा उदयपुर जिला और इनसे सटे हुए बूंदी, कोटा, भीलवाड़ा, टोंका, सवाई माधोपुर, जयपुर तथा अलवर के कुछ-कुछ अंश भी भील राष्ट्र के अंतर्गत आते हैं।

भारत के उत्तरी-पूर्वी आदिवासी राष्ट्रीयता : हिमालय की तलहटी से लेकर बर्मा की सीमा तक बसे आदिवासी राष्ट्रीयताओं के समूह को हम उत्तर-पूर्वी आदिवासी राष्ट्रीयता कहते हैं। इन राष्ट्रीयताओं का संबंध तिब्बती-चीनी भाषा परिवार के तिब्बती-बर्मी उप-भाषा परिवार से है। सबसे अधिक आदिवासी राष्ट्रीताये इसी उप भाषा परिवार

से संबंध रखती है यद्यपि जनसंख्या की दृष्टि से ये सभी राष्ट्र बहुत ही छोटे-छोटे हैं। राष्ट्रीयताओं की संख्या अधिक होने का एकप्रमुख कारण इन इलाकों की भौगोलिक स्थिति है। अत्यधिक पहाड़-घाटियां इत्यादि होने के कारण तथा यातायात के साधनों का नितांत अभाव होने के कारण यहाँ मानव-समुदाय एक-दूसरे के सपर्क में बहुत कम आये हैं। इसलिए राष्ट्रीयताओं की संख्या अधिक है। विषम भौगोलिक परिस्थितियों तथा आवागमन के साधनों के अभाव के कारण इस उप-परिवार की भाषाओं तथा उनकी बोलियों की संख्या भी बहुत अधिक है, यद्यपि इनका अध्ययन बहुत कम हुआ है। फिर भी हमारे पास इनसे संबंधित जो तथ्य और सामग्री है, उसके आधार पर हम इन्हें छः राष्ट्रीयताओं के रूप में बाँट सकते हैं।

तिब्बती-वर्मी उप-भाषा परिवार को तीन शाखाओं में बांटा गया है—तिब्बती-हिमालयन शाखा, उत्तरी आसाम शाखा और आसाम-वर्मी शाखा। तिब्बती-हिमालयन शाखा के अंतर्गत दो भाषा-ग्रुप आते हैं (i) भोटिया ग्रुप तथा (ii) हिमालयन ग्रुप। उत्तरी आसाम शाखा के अंतर्गत सिर्फ एक ग्रुप है, नेफा ग्रुप। आसाम-बर्मी शाखा के अंतर्गत तीन भाषा-ग्रुप हैं—(i) बोरो/बोडो ग्रुप, (ii) नागा ग्रुप (iii) कुकी-चिन ग्रुप। इन भाषा ग्रुपों के आधार पर छः आदिवासी राष्ट्रीयतायें बनती हैं जिनका, न्यूनतम उपलब्ध सामग्री के आधार पर, विवरण निम्नलिखित हैं। [निम्नलिखित विवरण में, पर्याप्त तथ्यों और आंकड़ों के अभाव में इन राष्ट्रों की भौगोलिक सीमाओं का अलग-अलग विवरण नहीं दिया जा रहा है। सामान्य रूप से ये सभी राष्ट्र हिमाचल प्रदेश के कुछ हिस्सों, प० बंगाल के कुछ हिस्सों मणिपुर के कुछ हिस्सों त्रिपुरा के कुछ हिस्सों, आसाम के कुछ हिस्सों तथा मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड और नेफा (नॉर्थ-ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी) में स्थित है।]

(viii) भोट राष्ट्र : भोट भाषा-ग्रुप की भाषाएँ और विभिन्न बोलियाँ बोलने वालों की कुल जनसंख्या २०७,३५३ थी। इसके अंतर्गत तिब्बतन, बाल्टी, लद्दाखी, लाहुली, स्पीती; जाद, शेरपा, सिक्किम-भोटिया, भूटानी, कागाते आदि भाषाएँ आती हैं। तिब्बतन भाषा की गाजाइ, गिदूँ, खामा, खाम्बा, कोन्गबो, कोन्यो, लामा, मेम्बा, मोनापा, शेर्दुकपीन, थाइख्याकिअल, तान्गबो तथा योरा बोलियां हैं। आस्करादी बोली बाल्टी भाषा के अंदर

आती है। लद्दाखी के अंदर बुधी, चम्पा, शाम और तुम्बाल बोलियां आती हैं। भुटानी के अंदर दुकपा बोली आती है। इसके अलावा मारच्चा तथा जान्सकारी बोलियां भी भोटिया भाषा के अंतर्गत हो आती है।

इन बोलियों के नामों का महत्त्व इस बात में है कि अधिकतर जनजातियों के नाम उनकी भाषा या बोली के नाम ही होते हैं।

(ix) हिमालयन राष्ट्रीयता : हिमालयन-ग्रुप की भाषाएँ और बोलियां बोलनेवालों की कुल जनसंख्या ७१,९२४ थी। इसके अंतर्गत चम्बा की लाहुली, कान्साकी, कन्नौरी, जांगली, धीमल, लिम्बु, खाम्बु, राइ, गुरूंग, तमांग, सुनवार, मंगारी, नेवाड़ी, लेपचा, कामी तथा टोटो भाषाएं आती हैं। कान्साकी की एक बोली हैं मलानी। कन्नौरी की बुधी, चीनी पहाड़ी, जांगी पहाड़ी चमांग तथा सामचू बोलियां हैं। जांगली की बनभाषा तथा रावती, दो बोलियां हैं।

यह राष्ट्रीयता आर्य जातियों के लिए बहुत प्राचीन काल से परिचित राष्ट्रीयता है। हिन्दुओं के पौराणिक साहित्यिक ग्रंथों में इस राष्ट्रीयता की जनजातियों का, विशेषकर कन्नौरी भाषा बोलने वाले-किन्नरों और गंधर्वों का उल्लेख बहुत बार आया है। ये लोग आर्यों के प्राचीन और आधुनिक साहित्य में भी अपने शारीरिक सौन्दर्य और मुक्त-प्रेम के लिए बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

(x) नेफा राष्ट्रीयता : नेफा भाषा-ग्रुप की भाषाएँ और बोलियां बोलनेवाले लोगों की कुल जनसंख्या १४२,६४० थी। इसके अंतर्गत आका या हरूसो; डफ्ला, अबोर या आदि, मिरि तथा मिशमी, भाषाएँ आती हैं। डफ्ला के अंतर्गत आप्तानी तथा बांग्नी बोलियां आती हैं। अबोर या अदि भाषा के अंतर्गत आशिंग, बोकर, बोरी-अबोर, गालौन्ग, मिलाम्ग, मिन्यांग, पदम, पाइलिबो, पान्गी, पासी-अबोर, रामो, सिमोंन्ग तथा तानिन बोलियां आती है। मिरि की एक बोली है मि-शिंग। मिशमी की तीन बोलियां हैं चुलिकाता मा इदु, दिगारू तथा मिजु।

(xi) बोरो/बोडो राष्ट्रीयता : ओरांव और मुण्डा राष्ट्रीयतायें, जो वर्षों से अपने लिए झारखंड प्रांत के लिए संघर्ष कर रहें हैं, के बाद बोरो राष्ट्रीयता तीसरी राष्ट्रीयता है जो अपनी अलग राष्ट्रीयता मनवाने के लिए तथा अपनी

भाषा की मान्यता की और लिपि की मांग को लेकर संघर्ष कर रही है। अभी हाल ही में १९७४ के जुलाई से लेकर नवम्बर तक बोरो साहित्य सभा ने अपनी भाषा की मान्यता तथा लिपि की मांग को लेकर उग्र सशस्त्र प्रदर्शन किए नवम्बर में जिनपर सी० आर० पी० ने गोलियां चलाई और सरकारी सूत्रों के अनुसार नौ व्यक्ति जान से मारे गए।

बोरो/बोडो भाषा-ग्रुप के अंदर बोरो या बोडो, लालुंग दिमासा, गारो, कोच, राभा, त्रिपुरी, देओरी तथा मिकिर भाषाएँ आती हैं। बोरो/बोडो भाषा की दो बोलियां हैं, कचारी और मीच। हइराम्बा दिमासा की एक बोली है। गारो के अंतर्गत अचिकी तथा दालु बोलियां आती हैं। कोच की एक बोली है बनाइ। रांगदानिया राभा की एक बोली है। त्रिपुरी के अंतर्गत जामातिया, कोक, बारक, मुरासिंग, नाओतिया बथा रिआंग बोलियां आती है।

बोरो भाषा ग्रुप की इन सभी भाषाओं और बोलियों को बोलनेवालों की कुल जनसंख्या १,२२८,४२१ थी।

(xii) नागा राष्ट्रीयता : नागा भाषा ग्रुप की भाषाएँ और बोलिया बोलनेवालों की कुल जनसंख्या १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार, ४७८४३९ थी। नागा राष्ट्र की राष्ट्रीय समस्या प्रांत की नहीं है वल्कि भारत से राजनीतिक अलगाव के अधिकार की है। यह उसका विशिष्ट राष्ट्रीय प्रश्न है जिसपर हम अपने अगले दस्तावेज में लिखेंगे जिसमें कि हम भारत के कई अन्य विशिष्ट राष्ट्रीय प्रश्नों पर भी लिखेंगे।

नागा भाषा-ग्रुप के अंतर्गत अंगामी, सेमा, रेन्गमा खेझा, आओ, लोथा, ताबलेन्ग, चान्ग-नागा, कया-नागा, जेमी-नागा, काबुइ, खोइराओ, माओ, यारुम, तान्गखुल, मारिंग, कोन्याक, पाचुरी, फोम, यीमेचुन्गरे, खेइ-मुन्गाम, नोक्टे, वान्चो, माकवारे, तांग्सा, चाकेसांग तथा जेलिआंग भाषाएँ आती है।

इन भाषाओं की कई बोलियां भी हैं जिन्हें, नागा राष्ट्र का स्वरूप पहले से ही स्पष्ट होने के कारण और स्थानाभाव के कारण, हम छोड़ दे रहे हैं।

xiii) कुकी-चिन राष्ट्रीयता : इस भाषा-ग्रुप के अंदर सबसे प्रमुख भा मणिपुरी है। मणिपुरी के अलावा थाडो, राल्ते, पाइते, तलांग-तलांग, पावं,

लाखेर, मिजो या लुशाइ, रांगखोल, हालाम, लांग्रोंग, आइमोल, चिरू, कोम, हमार, लामगांग, चोटे, पुरूम, आनाल, गांगती, वाइफेइ, खामी, खावाथालाग, सिम्ते, कुकी, डारलौंग, मुलसोम, चिन, मात तथा पोई भाषाएँ आती हैं।

मणिपुरी की दो बोलियाँ हैं—विष्णुपुरइया और मोयोल। थाडो के अंतर्गत बइते, चांगसेन, चोंगलेइ, हांगसीन, हांगुइ, हाओकुप, इन्दोइ, खोंगजाइ, किलोंग, किपगेन, लांगतुंग, ल्होबुम, लुमहाओ, माते, शोंगथु, सिंगसोन, तेजांग और थांगगेन बोलियां आती हैं। रांगखोल भाषा के अंतर्गत बेते और हादाम बोलियां आती हैं। बांग्शी, बोंगचेर, चारी-चोंग, काइपांग, कालाइ, कारबोंग, खेलमा, मुरसुम, रूपिनी, साइमाल तथा शेकासिप बोलियां हालाम भाषा के अंतर्गत आती हैं। चिरू भाषा के अंतर्गत खोइरेंग नामक बोली आती है। आनोल के अंदर मोयोन बोली आती है। गांगती के अंदर नोइसेल तथा सिम्ते के अंदर तिदिम और जू बोलियां आती हैं।

———

टिप्पणी : सभी तथ्य तथा आँकड़े "ट्राइबल मैप ऑफ इंडिया" (एंथ्रॉपॉलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, कलकत्ता), "एनेक्सर टू दी ट्राइबल मैप ऑफ इंडिया" तथा सेंसस ऑफ इंडिया—१९६१, पार्ट II सी, लैंग्वेज टेबल" से लिए गए हैं। जनसंख्या संबंधी आँकड़े १९६१ की जनगणना के आधार पर हैं -]

———